अमलतास के फूल

सन्तराम वत्स्य

• सन्तराम वत्स्य

अमलतास के फूल

पुस्तकायन

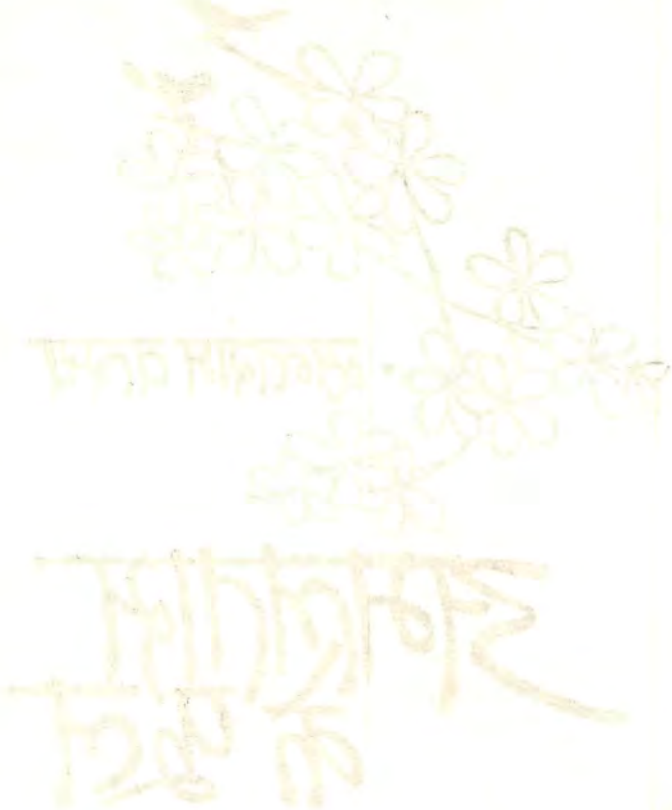

मूल्य : ३०.०० रु० (तीस रुपये)

प्रकाशक : **पुस्तकायन** [सुबोध पॉकेट बुक्स का उपक्रम]
२/४२४०ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-११०००२/**संस्करण** : १९८५
मुद्रक : राज प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

विषय-सूची

अमलतास	५
शाप मुक्त यक्ष	११
देवकन्या हिमांगिनी	१५
अथ कुत्ता प्रसंग	२१
चाय : सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठंडी	२७
किस्सा तोता (मैना)	३१
आदमी और कुत्ता	३८
लौट के बुद्धू घर को आए	४४
पब्लिक स्कूल बनाम विद्यादान	४७
स्वामी विवेकानन्द	५३
कलायोगी आनन्द कुमार स्वामी	५८
वृक्ष-विज्ञानी डॉ० जगदीशचन्द्र वसु	६३
रामकृष्ण परमहंस की जन्म-भूमि	७२
कांगड़ा में लोककथाओं का मौसम	७४
कांगड़ा जनपद की लोक-संस्कृति	७९
पालमपुर घाटी	८९
हिमाचल	९३
नैतिक शिक्षा	९९
बालक के विकास में पुराण कथाओं का महत्व	१०७
हिन्दी बाल-साहित्य : वर्तमान और भविष्य	११३
रिवालसर	१२४
हमारी नदियाँ	१२९
बुद्धि	१३४
लेखक-प्रकाशक प्रसंग	१४१
सभ्यता और संस्कृति	१४६

विषय-सूची

अमलतास

अमलतास के बारे में मेरा सौन्दर्य बोध 'घर का जोगी जोगड़ा' जैसा ही रहा है। मैंने कभी उसे महत्व नहीं दिया। उसकी भीनी-भीनी सुगन्ध मुझे अनायास सराबोर करती रही। उसकी मंजरियों को निर्दयता से तोड़कर हमजोलियों से खेला भी हूँ। घर के किसी बड़े-बूढ़े के कहने से उसकी पकी फलियों को तोड़ भी लाया हूँ जिनका रेचक दवाई के रूप में उपयोग किया जाता है। वे उपेक्षित-सी किसी ताक पर रखी रहतीं और उपयोग में न आने पर उठाकर फेंक दी जातीं। शहद खरीदने में इस बात का ध्यान रखा जाता कि वह अमलतास के फूलों से संचित हो और इसलिए अमलतास फूलने के बाद उतारे छत्तों का ही शहद खरीदा जाता।

आप जानते हैं अपने गाँव के आस-पास का आदमी यदि नई दिल्ली में मिल जाए तो जैसे ममत्व एकदम उमड़ पड़ता है, वैसे ही गाँव के इस उपेक्षित पुष्पपादप को नई दिल्ली में देखकर मेरा ममत्व भी उमड़ पड़ा है। वह गाँव में था और मैं भी वहीं था, तो वह उपेक्षित रहा। मैं दिल्ली में गया और उससे नई दिल्ली में मिला तो हमारा रागात्मक सूत्र जुड़ गया। अब जब गाँव में भी उसे देखता हूँ तो गाँव के सहज सम्बन्ध के कारण नहीं, दिल्ली के सम्बन्ध के कारण अधिक मान देने लगा हूँ। यही मानव स्वभाव है—सहज की अपेक्षा और असहज का समादर।

हमारे यहाँ अमलतास को अल्हो कहते हैं। थोड़ा-सा ध्यान

देने पर पता चल जाता है कि यह संस्कृत का शुद्ध 'अलिः' शब्द है। अलि का अर्थ है भौंरा। अलिकुल-संकुल-कुसुम होने के कारण इसका यह नाम पड़ा होगा, इसमें मुझे तो सन्देह नहीं है। मेरी इस बात पर सन्देह करके आप भी अपना नाम सन्देह-शीलों में नहीं लिखवाना चाहेंगे।

गर्मियों को बिताने अपने पहाड़ी गाँव में आता हूँ तो अनायास काल पर विजय पा लेता हूँ। घड़ी आते ही जो उतार कर रखी तो फिर उसकी सुध नहीं ली। यही मेरी काल पर विजय है।

तीसरे पहर सोकर उठा हूँ और अलसाया-सा हूँ। चाय पीकर शरीर के महान शत्रु आलस्य पर विजय पाकर स्फूर्ति अनुभव कर रहा हूँ। गाँव चारों ओर से बाँस के झुरमुटों, शिरीष और कचनार के वृक्षों से घिरा हुआ है। बाहरी परिधि में आम के पेड़ छितरे खड़े हैं। गाँव से बाहर के ढालू रास्ते पर निरुद्देश्य चल पड़ा हूँ। अनायास सामने की बनखण्डी पर दृष्टि जाती है तो आधुनिक कला का एक अमूर्त चित्र दिखता है। बड़े से, ओर-छोर हरे पुते पट पर. बीच से जरा दाएँ को वासन्ती रंग का एक बड़ा स्पाट है। मैं खड़ा हो जाता हूँ और ध्यान से देखने लगता हूँ तो निर्मल पानी में से डुबकी लगाने के बाद निकलते व्यक्ति के स्पष्ट होते आकार की तरह, जगाए जा रहे व्यक्ति की चेतना की तरह, कैमरे का फोकिसग सही करते समय स्पष्ट होते फोकस की तरह वह चित्र मुझे लैंडस्केप-सा दिखने लगा है। कैमरे का फोक्स बिल्कुल सही हो गया है और अब मैं सामने की बनखण्डी की छोटी-छोटी हरी कांटेदार झाड़ियों के बीच उनसे कुछ बड़े, खड़े अमलतास को देख रहा हूँ। 'खड़े' इसलिए कहा कि झाड़ियों में और इस अमलतास के आकार में अन्तर बैठे और खड़े जैसा ही था।

मैं चल रहा था, फोक्स फिर गड़ बड़ा गया। मुझे लगा कि समूह नृत्य की किसी मुद्रा विशेष में सखियाँ घेरा बनाकर उचक कर बैठी हुई हैं और प्रधान नर्तकी बीच में स्थिर नृत्य-भंगी के साथ खड़ी है। मैं फिर रुक जाता हूँ। आज अमलतास का सम्मोहन मुझे अपनी ओर खींच रहा है पर मुझे लगता है कि पास चला गया तो ये सारे चित्र खलत-मलत हो जाएँगे। फिर दूसरे ही क्षण एक दूसरे भय ने आ घेरा। कोई पूछ बैठा कि कहाँ जा रहे हो तो क्या कहूँगा! क्या यह कहूँ कि अमलतास के पास जा रहा हूँ। कभी नहीं। गाँव में इस तरह की भावुकता से आदमी हास्यास्पद बन जाता है और मैं वैसा नहीं बनना चाहता। पर मुझे रोकेगा कौन? रास्ते में बावली है पर इतनी धूप में कौन पानी भरने आता है। कुछ आगे प्राइमरी स्कूल है, वहाँ छुट्टी हो चुकी है। पर स्कूल के साथ वाला जो दुकानदार है न, वह जरूर टोकेगा। अक्सर मैं जब उदास होता हूँ तो उसका दिल बहला आता हूँ। मेरे जाते ही वह हुक्के का पानी बदल कर और नई चिलम भरकर ले आता है।

ज्यों-ज्यों पास पहुंचता जाता हूँ, पीताम्बर बौद्ध भिक्षु-सा वह बिरछा ही मेरे दृष्टि-पथ में रहता है और झाड़ियां आउट ऑफ फोकस हो जाती हैं। 'ओं मणि पद्मे हुँ' का उपांशु जाप जपते उसे पाता हूँ। मैं नहीं चाहता कि उसकी उपासना में विघ्न डालूं। हाथों को जोड़कर, सिर झुकाकर धीरे से कहता हूँ, **'भन्ते! प्रणाम करता हूँ।' और पास पड़े एक छोटे पत्थर पर** बैठ जाता हूँ। भन्ते अविचल मंत्र गुनगुनाते जाते हैं। कभी-कभी पवनान्दोलित उनका पीत उत्तरीय जरा-सा हिल जाता है।

मैं बद्ध और बुद्ध के अन्तर पर विचार करता बैठा रहता हूँ। जैसे प्रतीक्षा कर रहा होऊं कि कब भन्ते का जाप समाप्त हो और वे मुझे जीवन की क्षण-भंगुरता और निःसारता के बारे

में अपने श्री मुख से कुछ बताएँ।

मन फिर सूक्ष्म से स्थूल को ओर उतर आता है। मैं अमलतास के नीचे बैठा हूँ। भौरों का गुँजार सुन रहा हूँ। मेरे चारों ओर पीली-पीली पंखुड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं। उनकी भीनी-भीनी सुगन्ध से नासा पुटों को भरता हूँ। नीचे से दो-चार पंखुड़ियां उठाकर उनकी परिणति पर विचार करता हूँ—देवता के शीश पर चढ़ना या वन में बिखर जाना।

ऊपर देखता हूँ। सारे बिरछे पर एक भी पत्ता नहीं है। जो कुछ है, वह पुष्प ही है। यह पत्रहीन सही पर इस हीनता में भी गरिमा है। अमलतास किसी की दया का पात्र नहीं है। यह रिक्तता पुष्पों की पूर्णता के लिए है। अमलतास अमितदानी है, सर्वस्व लुटा देने वाला। कुछ दिन बाद जब वह सारा हिरण्मय कोष भी समाप्त हो जाएगा, तब भी उसे देखकर दैन्य की अनुभूति नहीं होगो। दाता की रिक्तता भी गौरवमयी होती है।

मैं वापस लौटना चाह रहा हूँ। मेरा हाथ अनायास पुष्प मंजरी को तोड़ने के लिए बढ़ता है। मैं एक मंजरी तोड़ लेता हूँ और पछताता हूँ कि यह मैंने कैसा अनर्थ कर डाला! फिर इस मंजरी को देवता को समर्पण करने का संकल्प करके मन को समझाता हूँ।

साँझ उतर आई है। छाया एकदम लम्बी हो चली है। ग्वाले गायों को वापस लाने लगे हैं। मैं इस मंजरी को भगवान् भास्कर को समर्पित कर देता हूँ। कुछ सोचकर फिर बैठ जाता हूँ। गोधूली को देखकर गोपाल कृष्ण की स्मृति हो आती है। और मैं रास-लीला में खो जाता हूँ। हरितवसना गोपियों के बीच तड़ितपीत पीताम्बर कृष्ण नृत्य कर रहे हैं। गोपियाँ उनकी नृत्य माधुरो से अभिभूत चित्र लिखित-सी स्तब्ध निर्निमेष खड़ी नेत्रों से उनकी रूप माधुरी का पान कर रही हैं।

चन्द्रमा निकल आया है। मुझे डर लग रहा है कि चोरी-छिपे इस दिव्य रास-लीला को देखने के लिए नटवर मुझे गूंगा होने का शाप न दे डालें। मैं चुपचाप खिसक आता हूँ।

मैं कल्पना करता हूँ कि कुछ दिनों बाद ये पुष्प झड़ जाएँगे। लम्बी फलियाँ लगेंगो और पककर काली हो जाएँगी, उस समय यह अमलतास समाधिस्थ जटाधारी संन्यासी-सा दिखाई देगा। किल्लोल करते बन्दर छोटे डंडे-सी इन फलियों को तोड़कर एक-दूसरे पर दे मारेंगे और खूब ऊधम मचाएँगे। इसीलिए तो इसका एक नाम बन्दर-लाठी भी है। फिर किसी बड़े-बूढ़े का या वैद्य का भेजा हुआ कोई आदमी औषधी के लिए इन फलियों को तोड़ने आएगा।

सारा हिरण्मय कोश लुटा चुके इस राजर्षि की जटाएँ लोकोपकार के काम आएँगी। फिर पीत-रंजक गुणयुक्त इसकी छाल को भी कोई चर्मकार चमड़ा रंगने के लिए उतार लेगा। तब चरितार्थ जीवन यह बिरछा पीलिया के रोगी की तरह प्राण त्याग देगा और इसकी जर्जर काया इंधन के रूप में काम आएगी। 'देहे पित्तं गेहे वित्तं चित्ते हरि' श्रेष्ठ उपलब्धियाँ हैं। बड़ों ने कहा है तो सच ही होगा। पर इन उपलब्धियों के साथ चिरायुष्य का मेल 'देहे पित्तं' वाले अमलतास में तो नहीं बैठता। हो सकता है अमलतास अपने सुकृति जीवन से सन्तुष्ट हो, पर उसे चाहने वालों को तो उसके अकाल काल कवलित होने का दुःख सालता ही रहेगा।

भगवान् पातंजलि ने योग सूत्रों की रचना द्वारा चित्त के दोषों को, व्याकरण द्वारा वाणी के दोषों को, चरक की रचना द्वारा शरीरगत दोषों को दूर करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। वे महान् ऋषि थे। इस दृष्टि से अमलतास 'ऋषि पादप' उपाधि का अधिकारी है। वह रूप, रस, गन्ध का दाता है।

और मधुस्यन्दी पुष्पों से रसना तृप्त होती है। आँखें उसे देखते नहीं अघातीं, उसकी भीनी गन्ध में बड़ा आकर्षण है। उसकी मंजरियों पर गूंजते भौंरे किसी रहस्यमय वार्तालाप का आभास कराते हैं। उसकी मृदु मंजरी का स्पर्श रोमांचकारी है। पर हाय ! बेचारे के ये गुण ही प्राणलेवा बन गए हैं।

□

शापमुक्त यक्ष

देवोत्थानी एकादशी तक यक्ष के शाप की अवधि थी किन्तु मेघ द्वारा प्रेषित सन्देश को जब सदय-हृदय कुबेर ने भी सुना तो उसका क्रोध समाप्त हो गया और शाप की अवधि को घटा-मिटाकर यक्ष-यक्षिणी का मिलन करवा कर मनवांछित भोग भोगने तथा सदा सुखी रहने की आशीश दे दी। महर्षि पतंजलि का योग सूत्र है : तीव्र संवेगानामासन्नः। अर्थात् जिनकी व्याकुलता तीव्र होती है उन्हें प्राप्ति शीघ्र होती है। यक्ष की व्याकुलता इस सीमा तक बढ़ी हुई थी कि चेतन-अचेतन में भेदभाव नहीं रहा था। भागवत् में महारास के प्रसंग में उल्लेख है : वंशी-ध्वनि को सुनकर गोपियाँ घरों से निकल पड़ती हैं। कुछ गोपियाँ ऐसी हैं, जिन्हें बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वे वहीं बैठ जाती हैं। ध्यान में कृष्ण का दर्शन करते हैं। इस दर्शन के फलस्वरूप उनकी विरह-ज्वाला से उनके सारे अशुभ कर्मों का नाश होता है। फिर वे वहीं बैठी-बैठी श्रीकृष्ण का ध्यान में आलिंगन करती हैं। इस आलिंगन के फलस्वरूप उनके शुभ कर्मों का भी नाश हो गया। शुभाशुभ फलों के नाश से ही मुक्ति लाभ होता है। जीव मात्र ही अविद्या माया द्वारा शापित है और दुःखमय जीवन बिता रहा है। इसके सोए देवता जब जाग उठेंगे तभी इस शाप का अन्त होगा।

विरह के अन्त के साथ ही यक्ष फिर महिमान्वित होगा। अब वह निर्वासितों की वासभूमि रामगिरि में नहीं रहेगा, कुबेर

की राजधानी अलका के मणि-मण्डित भवनों में रहेगा। उसकी कलाई अब अधिक दिन सूनी नहीं रहेगी। अब वह अपना सन्देश-वाहक स्वयं होगा, उसे मेघदूत की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। अब वह पराधीन नहीं है। यक्षपत्नी को भी अब न तो विरह के दिनों की गिनती करनी होगी और न किसी आगन्तुक की वाट जोहनी होगी। प्रोषितपतिका का मलिन वेष त्यागकर वह पुष्पाभरणों से अपना शृंगार करेगी। वेणी में फूल गूँथेगी। पुष्पपराग से कपोलों को रंजित करेगी और कल्पवृक्ष से प्राप्त मधु का पान करके यक्ष को मतवाला बनाएगी। उस बिंबा-धरोष्ठी के दुकूल को जब यक्ष खींचने लगेगा तो लाज की मारी वह रत्नदीप को बुझाने का निष्फल प्रयत्न करेगी। यक्षी के वामपादाघात के अभिलाषी अशोक और यक्ष दोनों की कामना पूरी होगी।

यक्ष-भवन के द्वार-स्तम्भों पर बनी हुई शंख और कमल की छविहीन आकृतियाँ फिर से राग-रंजित होंगी। यक्ष के प्राणों की प्राण छीन कटि और पीन पयोधरा उस श्यामा यक्षी का कुम्हलाया बदन खिलने लगेगा। पहले उसके जो नेत्र रोने से सूज जाते थे, अब रतजगे के कारण कुछ भारी होंगे। पहले निःश्वास के कारण उसका अधरोष्ठ बदरंग हो जाता था, अब सीत्कार के कारण विवर्ण होगा। विधाता की उस अनुपम सृष्टि अलकावासिनी यक्षी की अलकें अब बिखरी नहीं रहेंगी और उसका मुख-चन्द्र मेघमुक्त चन्द्रमा की तरह प्रसन्न-विमल होगा। अब उसे अन्य देवताओं की पूजा नहीं करनी होगी क्योंकि उसका हृदय-देवता प्रत्यक्ष होगा। उसे यक्ष का चित्र बनाने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी, क्योंकि वह तो प्रतिक्षण उसकी पुतलियों में प्रतिबिंबित होगा। अब न तो उसे मोर को नचाने का अवसर मिलेगा और न मैना को पढ़ाने का। अब वह अपने

प्रियतम को रिझाने के लिए जब वीणा पर मिलन-रागिनी बजाएगी तो स्वरलिपि को भूलेगी नहीं। अब उसे अपने मनो-विनोद के लिए पूर्व आस्वादित रति-सुखों की स्मृति को जगाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि नित्य नवीन सुरतों से वह असंतृप्त नहीं होगी। अब समययापन के लिये उसे दिन में चित्रांकन तथा वीणा बजाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और रातें तो और भी छोटी हो जाएँगी। प्रियमिलन सुख से उसकी देहयष्टि पुष्ट होगी और चाँदनी रातों में भरपूर मिलन-सुख से उसका बदन खिल उठेगा। अब मिलन-सुख के लिए उसे स्वप्न की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। विरह के पहले दिन यक्ष ने प्रिया की जो वेणी बाँधी थी, वह स्वयं उसने आकर अपने ही हाथ से खोल दी है और शिरस्नाता यक्षी की सुचिक्कण लम्बी केशराशि पुष्प गुंजित जूड़े के रूप में विन्यस्त है। कोमलांगी यक्षी ने फिर से अलंकरण स्वीकार कर लिए हैं और अब वह करुणामूर्ति नहीं, कामिनी लगती है। स्मेरमुखी यक्षी के दर्शन से आँखें अब सजल नहीं, स्निग्ध होती हैं और कृतार्थता का अनुभव करती हैं।

मृगनयनी यक्षी की तिरछी चितवन को रोकने वाली केशराशि अब स्वतन्त्र नहीं है। अपने प्रियतम के वक्षस्थल से गाढ़ालिंगन में बंधकर सोई हुई यक्षपत्नी की नींद अब मेघगर्जन से खुलने की नहीं। उसका बिछड़ा हुआ प्राण फिर लौट आया है। वह सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य के आनन्द में मग्न है। उन एक प्राण दो शरीर के मिलन की समस्त बाधाएँ दूर हो गई हैं। पूर्णकाम है, सत्य संकल्प है। अब यक्ष को अपना सन्देश स्वयं उसके कान में कहने की सुविधा है। अब दोनों एक दूसरे की आँख और कान की पहुँच के भीतर जो हैं।

अब यक्ष को प्रियंगु लतायें प्रिया के छरहरे शरीर, चकित

हिरनियों के नेत्रों में कटाक्ष, चन्द्रमा में मुखकान्ति, मोर पुच्छ में केशराशि और जलतरंगों में चंचल भौंहों की समता खोजने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। अब रूठी हुई प्रिया को मनाने के लिए चित्र बनाने की आवश्यकता नहीं रही और क्रूर विधाता में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह दोनों के मिलन को रोक सके। अब जब भी यक्ष प्रिया को भुजपाश में बँधने के लिए बाँहें फैलाएगा वह उसका कण्ठहार बन जाएगी। सिसकियों की जगह सीत्कार लेंगे। अब दक्खिन की ओर बहती हिमाचल की हवाओं को यह सोचकर स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं कि वे प्रिया के अंगों का स्पर्श करके आई होंगी। अब किसी तीसरे माध्यम की क्या जरूरत !

विरह की लम्बी-अन्धेरी रातें जो व्याकुलता के साथ करवटें बदलते भी नहीं बीतती थीं, याम युगों जितने हो गए थे, अब क्षणिकाएँ जैसी लगती हैं। कालचक्र घूम गया है, फिर सुख के प्रवासी पखेरू अपने देश में लौट आए हैं, अपने नीड़ों में, अपनों के बीच।

विरह से दोनों—यक्ष-यक्षी में अपूर्व रस-संचय हुआ है। इन्द्रियां भोगों के अभाव में अन्तर्मुखी हो गई थीं। अब उन अभिलाषाओं को वियोग की अवधि से गुणित करके वे इन्द्रिय-सुख भोगना चाहते हैं।

□

देवकन्या हिमांगिनी

देवकन्या हिमांगिनी को अपनी रूपश्री का बड़ा गर्व था। वह असाधारण सुन्दरी थी और साधारणों के बीच रहना उसे पसन्द नहीं था। वह प्राण-पण से अपनी असाधारणता की रक्षा करना चाहती थी। एक दिन सारी माया-ममता के बन्धनों को तोड़कर वह गिरिराज के एक उत्तुंग शिखर पर जा बसी।

यहां से जब वह चतुर्दिक देखती तो सब उसे क्षुद्र दिखाई देते। उसका अहम् सन्तुष्ट होता। योगिनी-सी वह स्थिर-निश्चल भाव से एकाकिनी अपने दिन व्यतीत करने लगी।

जिसे वह योग समझ रही थी, उसके मूल में थी अहमिका। उसकी निश्चलता स्थितप्रज्ञता नहीं, जड़ता थी। उसकी आत्म-तुष्टि आत्मवंचना थी। दर्पी ने उसे दर्पण बना दिया और दर्पण कभी आत्म-साक्षात्कार में समर्थ नहीं होता। शिथिल अहमिका के क्षणों में, शून्य उसे आ घेरता और वह अनमनी हो जाती। वह चेतन के स्तर पर वास्तविकता का सदा निषेध करती पर उसका अन्तस्, इस निषेध की खिल्ली-सा उड़ता ईषत् हास्य कर उठता।

कितने ही युग बीत गए। अहमिका की जिस शिला पर वह आसन लगाए बैठी थी, द्वन्द्वाभिघातों से उसमें दरारें पड़ गईं और एक दिन भाव प्रवाह के तीव्र वेग से शिला के नीचे की धरती सरक गई और शिला बड़े वेग से नीचे को खिसकी, जैसे किसी पूतात्मा ऋषि ने उसे शाप दे दिया हो : "आः पापे !

अधस्तात् गच्छ मर्त्यलोकम् ।"

हिमांगिनी यथासमय सावधान हो गई थी और दूसरी भूमिका में प्रत्यावर्तन कर गई थी। उसके प्राणों का संकट टल गया था। वह स्तब्ध थी यह सोचती हुई कि जिस शिला को मैं दुर्ध समझे बैठी थी वह कितनी भंगुर थी। और उसका वेगपूर्वक अधस्खलन तो उसके लिए उद्‌बोधक दृष्टान्त था। संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति। वह स्वयं भी शिला जैसी ही थी। क्या मेरा भी ऐसा ही पतन होगा !

अब उसे अपने भविष्य की चिन्ता सताने लगी। मेरा क्या होगा ! वसन्त का आगमन हुआ। उसने देखा, चारों ओर उल्लास छाया है। वनराजियाँ फुलकारी वाले हरे दुपट्टे ओढ़ वसन्त का स्वागत कर रही थीं। उनके मन-मस्तिष्क पर वसन्त छाया हुआ था। वे स्वयं भी वासन्ती बन गई थीं। वे वसन्त को समर्पित थीं। वसन्त से अभिन्न। उन्होंने इस तत्त्वज्ञान को पा लिया था कि 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'।

दूसरों को क्षुद्र समझने वाली हिमांगिनी अपनी क्षुद्रताजन्य आत्मग्लानि से भर उठी। वसन्त-श्री का यह उल्लास पर्व हिमांगिनी के जीवन का प्रश्नचिह्न बन गया। वसन्त की पूर्णता के गौरव में उसे अपनी रिक्तता जन्य लघुता सालने लगी। प्रकृति-निष्ठुर वह भाव विपर्यय के कारण कोमल हो उठी। वह किसी पर न्योछावर हो जाना चाहती थी पर उस 'किसीको' वह जानती भी तो नहीं थी। उसकी कोई सखी-सहेली भी तो नहीं थी। भावविह्वलता में भावशवलता के कारण वह अपने काम्य की रूप-गुणराशि का निश्चय नहीं कर पा रही थी।

और उसके इन्हीं सूने क्षणों में एक रात को पर्जन्य देव उस की अभ्यर्थना के लिए चल पड़े। दीपवाहिनी विद्युच्छटा उनके मार्ग को आलोकित कर रही थी। पटहनिनाद का घन-घोर

गर्जन प्रशस्त मार्ग की सूचना दे रहा था। पर यह क्या ! उनके अभ्यर्थना करने से पूर्व ही हिमांगिनी का म्लान मुख और भी छाया कलुषित हो गया। कहाँ गौराँगना हिमांगिनी और कहाँ नीलोत्पल श्याम पर्जन्य देव। उन्होंने अपने भुवनविदित पुष्कावर्त वंश का परिचय देते हुए हिमांगिनी को अपनी सहचरी बनाने की अभ्यर्थना की। किन्तु छायाम्लान हिमांगिनी के मुख को देखते ही उनकी आशाओं पर वज्रपात हो गया। फिर वे प्रेम-विह्वल हो देर तक अश्रुविमोचन करते रहे किन्तु हिमांगिनी का वज्र-कठोर हृदय नहीं पसीजा, नहीं पसीजा।

और इतने में उन्हें एक ओर धकेलते-ठेलते से पवमान आ पहुँचे। कहने लगे, "देवकन्ये ! मैंने उस काले-कलूटे को धकिया-कर खदेड़ दिया है। देखो तो उसका साहस ! यहाँ आने से पहले वह एक बार दर्पण में अपना मुँह तो देख लेता !"

"शुभांगी ! अपने रूप-यौवन को मेरे परस-स्पर्श से सार्थक करो। मैं अपने कुल-शील के बारे में अपने मुँह से क्या कहूँ। यह बापुरा पर्जन्य मेरी सहायता के बिना हिल-डुल भी नहीं सकता। देवताओं के हुतवह अग्नि की भी मेरे विना गति नहीं है। मैं समस्त प्राणधारियों का जीवनाधार हूँ। मैं तुम्हारे जीवन को धन्य करने आया हूँ। तुम स्थिर हो और मैं गतिमान्। हम एक-दूसरे के सफल पूरक हो सकते हैं।"

हिमांगिनी भावशून्य-सी पवमान की बातें सुनती रही। पव-मान् ने इसे नारी-स्वभाव की सहज संकोच भावना समझ और वे बातूनी-से बोलते रहे। पता नहीं उन्होंने क्या-क्या कह डाला। भावातिरेक से वे कम्पायमान हो रहे थे और श्वासोच्छवास की गति तीव्र हो गई थी।

हिमांगिनी निर्विकार-निर्लिप्त भाव से, बिना हाँ-हूँ किये उसका प्रलाप अनसुना करती रही।

तब वे अपने को अपमानित समझकर झुंझला उठे और उठ खड़े हुए। जोर का धक्का देकर उन्होंने द्वार खोला, बाहर निकलकर एक और जोर का धक्का देकर बन्द किया और अदृश्य हो गए।

ब्राह्ममुहूर्त से पूर्व यह सब घटित हो चुका था। मूक द्रष्टा की तरह हिमांगिनी ने यह सब देखा। दो पुरुषों की अभ्यर्थना को अस्वीकार करके अपने काम्य पुरुष की धुँधली-सी विधिनिषेधात्मक रूपरेखा उसके अन्तस् में उभरने लगी थी।

और तभी

प्राची में उदय होते सविता की अरुण किरणों ने उसका मस्तक चूम लिया। उसके कपोल इस संस्पर्श से रक्तिम हो उठे। उसका उदास-म्लान मुख शतदल कमल की तरह विकसित होने लगा। वह अकेली ही कह उठी, 'मैं सविता का वरण करूंगी। सविता ही मेरे वरेण्य हैं। मैं आज से उनकी हुई।'

सविता का सप्ताश्व रथ वेग से मध्याकाश की ओर बढ़ा चला आ रहा था।

प्रथम दर्शनजन्य प्रेम के नवोन्मेष से हिमांगिनी के शरीर पर रोमांच हो आया और स्वेदबिन्दुओं से वह नहा उठी। प्रेमगर्भा वह पहले ही दिन पीली पड़ गई। वज्रकठोर, निठुरा हिमांगिनी का हृदय प्रेम की ऊष्मा से विगलित हो चला। अपने मन की इस दुर्बलता पर वह विस्मय-विमूढ़ थी। उसका हृदय यह सोचकर काँप उठा कि यदि वे 'न' कह दें तो क्या होगा! फिर मैं उनसे 'क्या कहूँगी', 'कैसे कहूँगी' इसके बारे में सोचने लगी। प्रेम उसे आत्मनिवेदन की शक्ति से संबलित करता किन्तु दूसरे ही क्षण निगोड़ी लाज उसके अधरों पर हाथ धर देती। अन्ततोगत्वा पुष्पधन्वा के बाणों से बिन्धे उसके हृदय की वेदना को न सह सकने के कारण लज्जा उसे भगवान् भरोसे छोड़कर

खिसक गई। हृदय की सारी शक्ति को बटोरकर उसने सविता से अपना प्रणय-निवेदन कर ही दिया।

वह एकटक-निर्निमेष सविता की ओर देख रही थी—क्या कहते हैं!

उधर सविता देवकन्या की कर्पूर गौर मुखश्री को ताकते कुछ सोच रहे थे किंकर्त्तव्यविमूढ़-से।

हिमांगिनी के लिए एक-एक क्षण एक-एक युग के समान था। उसके हृदय की धड़कन बढ़ चली थी।

सबिता बोले, "तुम जानती हो कि मेरा जीवन कर्म-संकुल है। यायावर में और हठयोगिनी-सी एकासना तुम। अपने चतुर्दिक निर्मित परिधि से बाहर निकलो। देकर ही पाया जा सकता है। यही देवकुल की परम्परा है। 'देवाः दानात्' श्रुतिभगवती के इन वचनों का अनुसरण करो। समान हृदय-मन होकर ही हम एक-दूसरे के प्रेम-पात्र हो सकते हैं। तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारी यह कठोर शीतलता कितनी दाहक है। कितनी ही अमृतधर्मा औषधियों के जीवन को तुमने इस दाहक शीतलता से नष्ट कर दिया है। कितने प्राणी तुम्हारे इस आसन के नीचे दबकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके हैं। तुम जो यह समझे बैठी हो कि आतप-ताप से तुम उन्हें बचाती हो, यह तुम्हारी आत्मवंचना है। जीवन का स्रोत शीत नहीं, ऊष्मा है। तुम्हारी सार्थकता प्यास को सदा के लिए मिटाने में नहीं, प्यास बुझाने में है। तुम जीवनदान देकर बहुतों को प्राणदान दे सकती हो। करुणा-विगलित हृदय से ही यह संभव है। वज्रकठोर हृदय से नहीं। बोलो, चुप क्यों हो? मौनव्रत को छोड़कर मौन सेवा का व्रत ग्रहण करो। तुम्हारा जीवन धन्य—सार्थक हो जाएगा। अपना अभिलषित पाकर तुम सफल मनोरथा हो जाओगी।

अपने आराध्य के इस आदेश और उपदेश से गद्‌गद होकर

हिमांगिनी उनके चरणों में झुक पड़ी। उसके आत्मसमर्पण को सविता ने स्वीकारा और तब से—युगों-युगों से यह क्रम चला आ रहा है कि ज्यों ही परहित निरत हिमांगिनी की करुणा विगलित काया क्षीण से क्षीणतर हो जाती है, सविता उसे पुनर्नवा कर देते हैं।

□

अथ कुत्ता प्रसंग

यह अच्छा होगा कि हिन्दी शोधकर्ताओं के अनुकरण पर हम भी इस कुत्ता प्रसंग का आरम्भ वेदों से करें। पर बतर्ज 'कुत्ते से सावधान' मैं आपको सावधान कर देना चाहता हूँ कि इसमें शोध जैसी किसी चीज को आप खोजेंगे तो आपको निराशा ही होगी। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं 'कुत्ता विशेषज्ञ' नहीं हूँ। हाँ, कुछ वर्ष पूर्व, कुछ समय के लिए 'कुत्तापति' बना था, यह स्वीकारने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।

ऋग्वेद में सरमा नाम की एक कुतिया का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख है। देवराज इन्द्र उससे जासूसी का काम लेते थे। एक बार देवगुरु बृहस्पति की गायों को घुमन्तु जाति के लोग चुरा ले गए तो सरमा ने न केवल उन्हें खोज निकाला था अपितु चोरों द्वारा अनेक प्रलोभन दिए जाने पर भी, कर्त्तव्य-विमुख नहीं हुई थी। जासूसी विभाग में सरमा की जीवनी मुफ्त बाँटी जानी चाहिए।

महाभारत में वर्णित है कि इसी सरमा का पुत्र सारमेय एक बार परीक्षित-पुत्र जनमेजय के यज्ञमण्डप के पास घूम रहा था। जनमेजय के भाइयों ने उसे डण्डों से पीटा और भगा दिया। वह पीड़ा से व्याकुल रोता हुआ माँ के पास पहुँचा तो सरमा ने रोने का कारण पूछा। सारमेय ने बताया कि मुझे अकारण ही जनमेजय के भाइयों ने निर्दयतापूर्वक डण्डों से पीट डाला। सरमा ने कहा : 'तुमने कुछ तो किया होगा। हविष्य में मुंह डाला होगा

या फिर ऐसा ही कुछ और किया होगा।' पर सारमेय ने स्पष्टतः निषेध किया। वह बोला, मैंने हविष्य की ओर देखा तक नहीं। मैंने किसी भी चीज में मुँह नहीं मारा। मैं एक दम निरपराध हूँ।'

बेटे की बात पर विश्वास करके सरमा यज्ञमण्डप में जनमेजय के भाइयों के पास गई, और पूछा, 'मेरे निरपराध बेटे को आपने क्यों मारा ?' वे चुप रहे। संभवतः कुतिया के आगे अपनी सफाई पेश करना उन्हें असम्मानजनक लगा होगा। सरमा ने उन्हें शाप दे दिया और इस शाप से बचने के लिए जनमेजय मारा-मारा फिरा।

अब जरा समसामयिक परिस्थिति को देखें। थाने के किसी आदमी ने किसी निर्दोष व्यक्ति को पीटा हो और आप थानेदार से शिकायत करने जाएँ तो आप भी वहीं धर लिए जायेंगे। किन्तु तब सरमा का शाप सच हो सकता था।

गडरिये, गूजर और वनप्रान्तर के निवासी शुरू से कुत्ते पालते आए हैं। उनके लिए कुत्ते बड़े काम के हैं। पर अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद उनकी देखा-देखी भारतीयों में 'श्वान प्रेम' के नए प्रतिमान उजागर हुए हैं। वैसे 'लाइकी' कुतिया ने अन्तरिक्ष की पहली उड़ान में भाग लेकर अपनी जाति का सम्मान खूब बढ़ाया है।

कुत्तों से स्वामी-भक्ति को छोड़कर हमने अन्य कितनी ही बातें सीखी हैं। झबरे कुत्ते जैसे बाल रखना, डाग कालर (कुत्ते के कान जैसे), शक्तिशाली के सामने दुम दबा लेना और डरने वाले पर गुर्राना आदि। और एक क्षेत्र ऐसा भी है, जिसमें हमने कुत्तों को मात दी है—यह है चाटुकारिता। हमारे देश ने इस दशक में, इस क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की है। हम कम-से-कम इस क्षेत्र में 'विकासशील, से, 'विकसित' पद पर प्रतिष्ठित

हो गए हैं। सदा की तरह साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों ने इसमें देश की अगुआई की है। वे मार्ग-दर्शक जो हैं।

फैशन के रूप में कुत्ता पालना हमने विदेशियों से सीखा। अन्य बहुत-सी बातों की तरह हमें देशी कुत्ते भी कतई नापसन्द हैं। कुत्ता-पतियों के समाज में आप तभी सम्मान पा सकते हैं जबकि आपका कुत्ता विदेशी नस्ल और नाम का हो और सिर्फ अंग्रेजी समझता हो। यों कई गंवारु घरों के कुत्ते देशी भाषा भी समझ लेते हैं पर वे समाज में उसी तरह सम्मान नहीं पाते जैसे 'सभ्य समाज' में हिन्दी बोलने वाले।

कुत्ते का एक दुर्भाग्य यह है कि वह अपने द्वार पर हो तो अच्छा लगता है किन्तु दूसरे के द्वार पर बुरा। 'बड़े' आदमियों को कुत्ते पालने का शौक होता है। जब किसी को आप अपना शिकार बनाना चाहें तो 'कुत्ता' आपकी सहायता करता है। कुत्तों को ये लोग तरह-तरह के करतब सिखा देते हैं और कुत्ते मालिक के इशारे पर करतब दिखाने का कर्तव्य पूरा करते हैं। कई बार कुत्तों को भौंकता सुनकर लोग बिगड़ने लगते हैं और ढेले या डण्डे की सहायता लेते हैं। यह पदातियों की बात है। पर जो हाथी पर सवार होते हैं, वे कुत्तों के भौंकने की परवाह कब करते हैं! कई मालिक लोग पालतू कुत्तों को अपने विरोधियों पर भौंकने की खुली छूट दे देते हैं। लोग समझते हैं, कुत्ता भौंक रहा है पर मालिक असलियत को जानता है कि कुत्ता तो मेरा ही पढ़ाया हुआ है और एक तरह से कुत्ते का मुखौटा लगाकर मैं ही भौंक रहा हूँ।

जब आप पालतू कुत्ते को हर समय बाँधकर रखते हैं तो वह कटखना हो जाता है और यदि खुला छोड़ देते हैं तो आवारा। कुत्तों को आप चाहे पेट भर खिलाइये परन्तु जब उन्हें माँस-भोजी मानवों की चूसी और निचोड़ी हुई हड्डियाँ मिलेंगी तो वे

उनके आस्वादन का लोभ संवरण नहीं कर सकेंगे।

अगर आपने कुत्ता पाला है तो उसके गले में पट्टा जरूर डालिए। इसके दो लाभ हैं—एक तो यह कि नगरपालिका वाले उसे आवारा नहीं समझेंगे। नहीं तो आवारा कुत्तों को वे जैसी मौत मारते हैं, वह किसीसे छिपा नहीं है। गले का पट्टा उस समय भी काम आता है जब किसी आगन्तुक पर भौंकते कुत्ते को स्वामी बलपूर्वक पकड़कर बाँधना चाहता है।

मेरे एक प्राध्यापक मित्र हैं। उन्हें बचपन में, उनकी गलत-कारियों अर्थात् कुत्ते को ढेला मारने की बुरी आदत के कारण किसी दुर्दान्त कुत्ते ने काट लिया था। तब से कुत्ते के नाम से भी उन्हें डर लगता है। वे एमरजेंसी और तानाशाही से भी उतने नहीं डरते जितने किसी कुतिया से। साब, एक बात याद रखिए, कुत्ता पालें तो उसे टीका लगवाना कभी न भूलें क्योंकि कुत्ता पागल हो जाए तो फिर वह अपने पराए में भेद नहीं करता। बुद्धिमानों को इशारा काफी है।

एक बार आपने कुत्ता पाल लिया और बाद में चाहें कि उससे किसी तरह छुट्टी मिले तो मुश्किल है। फिर उसे आप चार-छः मील दूर भी छोड़ आएंगे तो वह वापस लौट आएगा।

मेरी समझ में, हालांकि मुझे उस पर बहुत भरोसा नहीं है, सब से खराब और खतरनाक कुत्ता वह होता है जो कभी बड़ी कोठी में रहता था और कार पर चढ़कर चलता था। किसी के भी दिन एक से नहीं रहते। किन्तु साब, कुत्ता कोई तत्त्वज्ञानी तो होता नहीं जो इस बात को समझकर चुप बैठ जाए। कोठी में था तो जो भीतर आते थे उन पर गुर्राता-भौंकता था। तिस पर भी पुचकार कर शान्त किया जाता था। मालिक कोठी और नगर बदल कर चले जाते हैं और कुत्तों को खुला छोड़ जाते हैं। इस तरह के कुत्ते पुरानी आदत के कारण दूसरों का ध्यान अपनी

ओर खींचने के लिए हर भले आदमी पर भौंकने लगते हैं। घोर कलिकाल है यह। नहीं तो ऐसे स्वामी-भक्त कुत्तों को छोड़कर अपने आप सुख-भोग का जीवन स्वीकार करना कहाँ की भलमनसाहत है। धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने अनुयायी कुत्ते के लिए स्वर्गसुख को लात मार दी थी। इसे समय तथा परिस्थितियों का फेर ही कहा जाय तो ठीक रहेगा।

कई बार ऐसा भी देखने में आता है कि कुत्ता जिसके पीछे-पीछे दुम हिलाता घूमता है, उससे कोई पूछ ले कि साब, यह कुत्ता आपका है तो वह जिम्मेदारी से बचने के लिए कह देता है कि मेरा तो नहीं है, पर मुझे प्यार करता है। बताइये भला, यह भी कोई बात हुई। पर कुछ मामलों में कुत्ता-पतियों का व्यवहार प्रशंसनीय भी कहा जा सकता है। यों चाहे उसे आप प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार न ही करें। जैसे यह कि मुझे प्यार करते हो तो मेरे कुत्ते को भी प्यार करो। क्यों, आपका क्या विचार है?

वेद की बात हमने शुरू में की ही थी। अब लोक की भी सुन लीजिए। लोक में कुत्तों में सबसे गया-बीता कुत्ता धोबी का समझा जाता है। बेचारा न घर का, न घाट का। साब, कुत्ते में सबसे बड़ी बुराई यह है कि वह दूसरे जातिबन्धु को बर्दाश्त नहीं करता। बस, अकेला ही सारा माल हड़प जाना चाहता है। मनुष्य और कुत्ते में स्वभावसाम्य के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

और कुत्ते की खास बात यह है कि यह तुरन्त सो जाता है और जरा-सी आहट होने पर जाग जाता है। सोए हुए कुत्ते को यों ही जगाना शास्त्र विरुद्ध है। क्या पता जगाने वाले पर ही भौंकने लगे। और इनकी चालाकी देखिए, खुद तो दिन में सौ बार झपकी ले लेंगे और रात को मुहल्ले भर की नींद

हराम कर देंगे। पता नहीं, इनका गला क्यों नहीं बैठता।

सबसे बड़ी समस्या तो तब पैदा होती है, जब कोई व्यक्ति अपना धर्म छोड़कर कुत्ता धर्म अपना लेता है। यह सरासर गीता के उपदेश की अवहेलना है। वहाँ साफ लिखा है कि 'परधर्मो भयावहः'।

लोक कवि ने कुत्तों की कुछ और किस्में गिनाई हैं—सौर्यां घर जवाई कुत्ता, भैणा दे घर भाई कुत्ता.....

ठीक तो यह होगा कि आप कुत्ते से न दोस्ती रखें और न दुश्मनी से क्योंकि : काटे चाटे श्वान के दुहुं भांति विपरीत।

□

चाय : सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठंडी

चाय की चुस्कियों के साथ बतास का आनन्द दूना हो जाता है। आप दून की हाँकने से लेकर आज के समाचारों और मौसम तक को अपना विषय बना सकते हैं। यदि निन्दारस को माध्यम बनाया जाए तो फिर कहना ही क्या है ! निन्दा भी यदि साहित्य और साहित्यकार की हो तो तीन घंटे का समय केवल तीस मिनट में बीत जाएगा। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के युगान्तरकारी सापेक्षता सिद्धान्त तीन घंटे तीस मिनट में कैसे समाप्त हो जाते हैं, यह समझने में आपकी सहायता कर सकता है, बशर्ते कि वह आपकी समझ में आ जाए। ट्राई कर देखिये न, फिफ्टी-फिफ्टी के चान्स हैं।

अगर आपकी उमर मेरे जितनी हो तो आपने चाय का वह विज्ञापन पढ़ा होगा (बशर्ते तब तक आप पढ़ने लगे हों) : "चाय सर्दियों में गर्मी और गर्मियों में ठण्डक पहुँचाती है।" मैंने वह विज्ञापन इतनी बार पढ़ा है कि मैं इस पर यकीन भी करता हूँ। चाय के बारे में मेरी अपनी भी कुछ मान्यताएँ हैं। स्वर्गीय मौलाना अबुल कलाम आजाद की भी थीं। उन्हें सिर्फ चीन की चाय और चीनियों का चाय पीने का ढंग पसन्द था। मैं इस मसले पर दूसरी तरह से सोचता हूँ। जहाँ दूध बहुत होता है, जैसे हरियाणे में, और जहाँ चीनी बहुत होती है, जैसे उत्तर प्रदेश में, वहाँ के लोग चाय बनाना नहीं जानते क्योंकि इन दोनों

चीजों में से किसी एक को भी अधिकता चाय का स्वाद बिगाड़ने के लिए पर्याप्त है। चाय बनाना और पीना जानते हैं तो केवल गिरिजन। हिमाचल, कश्मीर, तिब्बत, असम आदि पार्वत्य प्रदेशों के लोग, जहाँ चाय पैदा होती है। 'गिरिजन' का विलोम शब्द जिसको मैंने मान्यता दी है, (कुछ तथाकथित कोशकार इसके बारे में सहमत नहीं हैं) 'हरिजन' है। आचार्य वाजपेयी का मत ज्ञात नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि जो गिरिजन नहीं है, वह हरिजन है। सन्तों ने कहा है :

"हरि को भजे सो हरि का होए।"

गीता में चाय का वर्णन इस प्रकार है—1. कटु (बिना दूध-मीठे की), अम्ल (नींबू वाली), नमक वाली, अति ऊष्ण (बहुत गर्म), तीक्ष्ण (जिसमें अदरक, काली मिर्च पड़ी हो), रुक्ष (सपरेटा दूध की), विदाही (जलन पैदा करने वाली)। इसमें गीतानाथ ने नमक और मक्खन वाली चाय का जान-बूझ कर जिक्र नहीं किया है। कारणनहीं बताऊँगा। गीता से ही चाय के अन्य महत्त्व-पूर्ण गुण का पता भी चला है। अर्जुन का एक नाम है 'गुडाकेश' अर्थात् जिसने नींद को जीत लिया है। प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्। आप कट् कोटि की चाय के दो-चार प्याले रात को सोने से पहले पी लीजिए फिर देखिए कि निद्रा देवी पास भी फटक जाएँ। फिर आप थोड़े पाठान्तर के साथ दुर्गासप्तशती का यह मन्त्र पढ़ सकते हैं। या देवी अन्य भूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै० अब सारी कहानी बदल जाती है : दुनिया सो रही है और आप जाग रहे हैं। यहाँ फिर गीतानाथ आपके बारे में कुछ कहते हैं : 'या निशा सर्वभूतां तस्यां जागर्ति संयमी। यम-नियमों का पालन किए बिना संयमी की यह उपाधि क्या बुरी है। अपनी इस जाग-रूकता का उपयोग आप प्रेम-पत्र लिखने, परिवार-नियोजन पर वार्ता लिखने, दू रे खाते तैयार करने और तारे गिनने के लिए

भी कर सकते हैं। यह तो केवल दिशा निर्देश है। सच तो यह है कि जो जागरूक है, उसके लिए क्या दिशा और क्या निर्देश।

बात में से बात निकलती है। संस्कृत साहित्य में जैसे पहुँचे हुए सन्त हो गए हैं, वैसे आधुनिक भाषाओं में मिलने दुर्लभ हैं। उन्होंने तत्त्व की बातें भी ऐसी सादगी के साथ बयान की हैं, कि दंग रह जाना पड़ता है। 'सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठण्डी' वाली बात को ही लें। कहने वाले कह गए हैं : (यहाँ एक श्लोक आपको सुनना पड़ेगा) :

कूपोदकं वटछाया, श्यामा स्त्री चेष्टिका गृहम्।
शीतकाले भवेद् उष्णम्, ऊष्णकाले च शीतलम्॥

(कुएँ का पानी, बड़ की छाया, श्यामा स्त्री और कच्ची ईंटों का घर। ये चीजें सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठण्डी होती हैं।)

मध्यकालीन साहित्य में संभवतः श्यामा नाम की किसी नायिका का उल्लेख नहीं है। मेरे पूर्वज वात्स्यायन ने भी इस नायिका के बारे में कुछ नहीं लिखा है। किन्तु उनके लिखने न लिखने से क्या होता-जाता है। सच्चाई तो सच्चाई है।

हां, याद आया। वात्स्यायन भूल जाएं पर महाकवि कालिदास नहीं भूले हैं। उन्होंने मेघदूत में 'तन्वी श्यामा शिखर दशना' को 'मानहु ललना-सृष्टि में मुख्य रची करतार' कहकर श्यामा को समादृत किया है। पारखी जो ठहरे।

एक और नमूना पेश है। मेरे सामने एक पत्रिका है जो मध्य मई में मेरे पास आई है। इस पत्रिका का यह फरवरी का अंक है। अर्थात् फरवरी का अंक मध्य मई में। मुखपृष्ठ पर वसन्त-श्री का रंगीन फोटो चित्र है। सम्पादकीय के बाद का लेख वसन्त ऋतु पर है। वसन्त पर एक कविता भी है। यों आप मनन-चिंतन की मुद्रा में हों तो यह सब आपको अटपटा भी लग

सकता है। पर क्या यह अपने-आप में मजेदार नहीं है कि होली पर जो अंक आपके पास आए उसमें दीवाली पर सामग्री हो और जब मध्य मई में लू की लपटें चल रही हों तो आप वसन्त पर लेख और कविताएँ पढ़ें। इसी तरह जब वर्षा ऋतु समाप्त होने को हो तो लू से बचने के उपायों और गर्मियों में 'शीतल पेय' विषयों पर चटपटी सामग्री आपको पढ़ने को मिले। यदि जीवन में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करना है तो यह सब स्वीकार करना पड़ेगा। इस तरह की काल-निरपेक्ष सरकारी पत्रिकाओं का समाज और जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैं आशा और आस्थावान् व्यक्ति हूँ। कालजयी ये पत्रिकाएँ भविष्य में देशजयी भी हो सकती हैं। तब पत्रिका का एक अंक यदि दिल्ली से निकला है तो दूसरा दार्जिलिंग से निकलेगा और तीसरा तो हम इस परिणाम पर पहुँचे कि उस संस्कृत श्लोक में गिनवाई चीजों के अतिरिक्त चाय और तीन महीने लेट निकलने वाली मासिक पत्रिकाएँ भी 'सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठण्डी' का मज़ा देती हैं।

□

किस्सा तोता (मैना)

तोता जंगली भी होता है और पालतू भी। पहचान यह है कि जो वृक्ष पर बैठा हो, वह जंगली और जो पिंजरे में बन्द हो वह पालतू। इसका रंग 'तोतई' होता है। यही वजह है कि इसे तोता कहा जाता है। इस सम्बन्ध में सारे पक्षी-शास्त्री एक-मत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि तोते जैसा जो रंग है, वह तोतई है। बहुत कोशिश करने पर भी इस विषय के विशेषज्ञ सालिम अली साहब का निर्णायक मत मालूम नहीं हो सका। अब आप खुद ही फैसला कर लीजिए न, आप कोई गोबर गणेश तो हैं नहीं।

तोते से मनुष्य ने कई गुण उधार लिए हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है 'तोताचश्म' होना। अब इसके बारे में आपको ज्यादा क्या बताऊँ।

दूसरा गुण जो मनुष्य ने तोते से सीखा वह है : तोता रटंत- यह संस्कृत के विद्यार्थियों में विशेष रूप से पाया जाता है। यों पोलिटिकल वर्कर भी इस गुण में पीछे नहीं हैं। वैसे हकीकत क्या है, इसे वे समझते हों तो इसमें भी हैरानी नहीं पर दूध-भात तो तभी मिलेगा जब रट्टा ठीक से लगायेंगे।

चिड़ियाघर में तरह-तरह के तोते आप देख सकते हैं। पर वहाँ जाने की फुर्सत न हो तो भी उनकी तरह-तरह की बोलियाँ सुनने के लिए अखबार पढ़ लेना काफी है। कुछ तोते सिर्फ रूसी

बोली बोलते हैं तो कुछ अमरीकी। कुछ वर्षों से चीनी बोली बोलने वाले तोतों की नई नस्ल भी हमारे देश में उगआई है।

उनकी बोली सुनकर आपको यह अन्दाजा लगाने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी कि इनका दाना-दुनका भी इम्पोर्टिड ही होता है। अक्सर अपने देश की कोई भी चीज इन्हें पसन्द नहीं आती सिवा देशद्रोह के।

ओह ! माफ कीजिए, एक बात बताना तो भूल ही गया। तोते की चोंच का रंग तोतई न होकर लाल होता है। अब आप चाहें तो इस रंग को हनुमान से लेकर लेनिन तक किसी से भी जोड़ सकते हैं। इस तीखी और नुकीली चोंच से तोता फल खाता कम है, कुतरता ज्यादा है।

तोते का साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तो इसी से जाहिर है कि किस्सा तोता-मैना सत्यार्थ प्रकाश से भी ज्यादा बिकता है। 'शुक बहत्तरी' एक अन्य प्रसिद्ध पुस्तक है। विद्वान पाठकों को यह बताना आवश्यक है कि संस्कृत में तोते को 'शुक' कहते हैं (फिर बताया क्यों ?— सम्पादक) यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि मुझे मालूम नहीं है कि 'शुक बहत्तरी' किस्सा तोता मैना का हिन्दी नाम है या कोई 'स्वतन्त्र पुस्तक' है। (हालाँकि लेखक होने के नाते मुझे अपना अज्ञान स्वीकार करने का कोई हक हासिल नहीं है।)

हिन्दी शोध के खेत (क्षेत्र) में बढ़ते हुए तुलनात्मक अध्ययन और शोध अध्यापकों की संख्या को देखते हुए कहा जा सकता है कि किस्सा तोता-मैना और शुक बहत्तरी पर किसी ने जरूर चंचुपात किया होगा, चोंच मारी होगी। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि चोंच मारने की बात मैंने अवज्ञाभाव से नहीं लिखी है। क्योंकि यह हस्तलेख मूलतः पक्षी के सम्बन्ध में है इसीलिए

वैसी भाषा का प्रयोग किया है।[1]

जिन किन्हीं भी रसिक कवियों ने नख-शिख वर्णन या नायिका भेद वर्णन किया है, उन्होंने 'शुक नासिका' को बहुत मनोज्ञ माना है। यद्यपि ऐसी नासिका वाली नायिकाएँ आधुनिक युग में उतनी नहीं पाई जातीं, जितनी मध्य युग में पाई जाती थीं तो भी कभी-कभार दिख जाती हैं तो मुझे तो फूटी आँख नहीं सुहातीं (वैसे मेरी दोनों आँखे अभी तक ठीक हैं। पढ़ते-लिखते वक्त चश्मा जरूर लगाता हूँ, ताकि पढ़ना-लिखना आ जाए।)

पालतू तोते को (पहचान पहले बता चुका हूँ) गंगाराम के घरेलू नाम से भी पुकारा जाता है। इन्हें जो पहला सबक सिखाया जाता है, वह राम-राम कहने का होता है।

तोतों के बारे में भेद की बातें तो बहुत हैं पर बताऊँगा सिर्फ एक। (इसमें एकमात्र कारण मेरी प्रभुसत्ता और स्वतंत्रता ही है) तोते के बच्चे को अपनी बोली सिखाने के लिए जरूरी है कि उसे तोते की बोली कभी सुनाई न दे। इसलिए उसे घड़े में सुराख करके अन्धेरे बन्द कमरे में रखा जाता है। ठीक वैसे ही जैसे लड़कियों का अनैतिक व्यापार करने वाले उन्हें ऐसे स्थानों में रखते हैं जहां से उनकी आवाज बाहर की दुनिया को न सुनाई दे, चाहे वे उन्हें कितनी ही अमानुषिक यातना दें।

अकसर तोते मालिक के प्रति वफादार होते हैं। (मालकिन के प्रति नहीं) और मालिक की गैरहाजिरी में वे जो कुछ करती हैं, सब कुछ मालिक को बता देते हैं और अकसर मालकिन द्वारा गर्दन मरोड़कर मार दिए जाते हैं। बिल्लियाँ भी इस काम में

---

1. यह स्पष्टीकरण महज कानून की गिरिफ्त से बचने के लिए दिया गया है। वास्तविकता सर्व विदित है।

उनकी मदद करती हैं। किसी औरत की प्राइवेट लाइफ में किसी को दखल देने का अधिकार नहीं है। इसीलिए औरतें तोते की अपेक्षा मैना पालना पसन्द करती हैं। (विशेष जानकारी के लिए किस्सा तोता मैना पढ़िए।) पर ऐसा भी मत सोचिए कि तोता न पालकर मैना पालने का ऊपर संकेतिक ही एक मात्र कारण है। मेघदूत में यक्ष-पत्नी ने भी सारिका (मैना) पाल रखी थी जबकि यक्ष को उसके चरित्र के सम्बन्ध में कोई शिकायत नहीं थी। इस सारिका का 'सारिका' पत्रिका से तो दूर का भी रिश्ता नहीं है।

पढ़ाए हुए तोतों की वजह से कई व्यापारी धोखा खा चुके हैं। बतौर नमूने के याद दिला दूं कि एक मालिक ने तोते को सिखा रखा था 'दरींचे शक' (इसमें क्या शक।। तोते के खरीददार से जब उसने हजार रुपए कीमत माँगी तो वह दंग रह गया (अक्सर व्यापारी कीमत सुन कर दंग होते हैं, सुनाकर नहीं) व्यापारी ने पूछा, 'क्या ऐसा बेशकीमती है यह तोता ?'

चालाक मालिक ने कहा, 'जनाब तोते से पूछ लीजिए।'

व्यापारी की उत्सुकता बढ़ी, उसने तोते को सम्बोधित करके पूछा, 'क्यों मियाँ मिट्ठू तुम्हारी कीमत एक हजार है ?'

तोता बोला, 'दरींचे शक।' व्यापारी कीमत सुनकर इतना दंग नहीं हुआ था, जितना यह जवाब सुनकर हुआ। (जाहिर है वह फारसी जानता होगा और तेल नहीं बेचता होगा। हालांकि अक्सर व्यापारी अंगूठा टेक होते हैं) यह भेद तो खरीदने के बाद घर जाकर खुला कि तोता सिर्फ एक ही वाक्य बोलना जानता है।

मेहरुन्निसा (बाद में नूरजहां) जब कनीज थी तो एक दिन उसके दोनों हाथों में दो कबूतर थे। जब उनमें से एक उड़ गया और शहजादे ने पूछा कि कैसे उड़ गया तो उसने फिल्मी अदा

से दूसरे कबूतर को उड़ाते हुए कहा कि ऐसे। अल्लाकसम, क्या गजब की अदा रही होगी कि कबूतर तो उड़ गए पर जहांगीर फंस गया और मेहरुन्निसा कनीज़ से बेगम नूरजहाँ बन गई। पर किसी के हाथ के तोते तब उड़ते हैं जब वह मुसीबत में फँस जाता है।

जायसी ने पद्मावतमें हीरामन तोते का उल्लेख करके तोता जाति पर जो उपकार किया था, ये 'तोता चश्म' उसे तो भूल ही गए और आज जायसी और पद्मावत दोनों में से किसी का नाम तक नहीं जानते हैं।

तोतों पर सत्संगति और कुसंगति दोनों का प्रभाव पड़ता देखा गया है कि जबकि मनुष्य की औलाद पर सिर्फ कुसंगति का प्रभाव पड़ता है। (विशेष जानकारी के लिए मेरी लिखी कहानी 'दो तोते' पढ़िए।)

अगर आप मनचले किस्म के आदमी हैं तो आपको औरतों की बेवफाई का शिकवा जरूर होगा। और यदि आप सौभाग्य से (सौभाग्यवती नहीं) औरत हैं तो इस बात की पूरी संभावना है कि मर्दों की बेवफाई के कई दृष्टांत आपको जवानी याद होंगे। वशर्ते कि आपकी याददाश्त ठीक हो। इसके लिए'किस्सा तोता-मैना अच्छा सन्दर्भ ग्रन्थ है।

हमें पुरुष द्वारा मैनाओं के पाले जाने का एक बहुत ही प्रमाणिक सन्दर्भ मिला है। शंकराचार्य के समकालीन और पंडित समाज के मण्डनभूत मण्डन मिश्र के घर का रास्ता जब आचार्य शंकर ने पनिहारिनों से पूछा तो वे बोलीं, 'जिस द्वार पर पिंजरे में बैठी हुई मैनाएं आपस में विचार करती हैं कि जगत नित्य है या नाशवान्, वही मण्डन मिश्र का घर है। मैं समझता कि इस अते-पते से किसी के घर को ढूंढना आसान नहीं है। पर शंकराचार्य थे कि उन्होंने न केवल घर ढूंढ लिया, मण्डन मिश्र

को उसके ही घर में शास्त्रार्थ में पराजित भी कर दिया।

सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने प्रपंच में फंसे व्यक्ति को 'बन्ध्यो कीर मरकट की नाई' उपमित किया है। 'कीर' तोते को कहते हैं। तोते को कैसे पकड़ा जाता है, अगर इसकी तफसील दे दूँगा तो बेकारी के इस जमाने में आपमें से कोई इस लाभदायक धन्धे को अपना सकता है और तब मैं भी नरक का भागी बनूंगा।

जनाब ! देशभक्ति का सबक सीखना हो तो उस तोते से सीखिए जिसने जलते हुए वृक्ष के कोटर से इसलिए उड़ने से इन्कार कर दिया था कि मैं इसके फलों को खाकर पला हूँ। जिऊँगा तो इसके साथ, मरूँगा तो इसके साथ। जाहिर है कि वह देश की सीमाओं को मानता था, इसलिए कम्युनिष्ट नहीं था।

तोता घोंसला नहीं बनाता। मादा वृक्ष के कोटर में अण्डे देती है। महंगाई, सीमेंट में मिलावट और ठेकेदारों तथा पी० डब्ल्यू० डी० वालों की मिलीभगत के कारण बने बनाए मकान लेना यद्यपि खतरा मोल लेना है। फिर भी जंगलमें यह बीमारी अभी नहीं पहुँची है।

सचमुच यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि किसी को अपनी खूबियों की वजह से मुसीबत झेलनी पड़े। और इस मामले में तोता बड़ा अभागा है। वह मनुष्य जैसी बोली बोल लेता है, इसी गुण के कारण तो उसे पिंजरे में बन्द कर दिया जाता है। नहीं तो क्यों नहीं लोग चील-कौए पाल लेते। तोते की यह खबी ही खराबी बन गई है।

यह किस्सा तोता अब पूरा होना चाहता है। चलिये कलम हाथ पराशर के पौते शुक का पुण्य स्मरण कर लें। यो वे हैं तो प्रातः स्मरणीय पर दोपहर में याद कर लेने में भी क्या

हर्ज है। यह जो वैष्णवों का प्राण भागवत पुराण है न, यह मृत्युलोक के अभागे लोगों को कभी न मिलता यदि वे निगम कल्पतरु के फल इस भागवत पर चोंच न मारते। उन्होंने चोंच मारी और यह पका फल ऊपर के लोक से नीचे के लोक में आ गिरा और आज हम इसका रस पीते नहीं अघाते हैं।

यह सीधी-सादी बात जो मैंने अभी आपको समास में बताई है, आपके लिए टेढ़ी खीर बन जाती यदि आप इसे किसी 'व्यास' के मुख से सुनते।

कहा भी है, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' और परीक्षा में धुँआधार पन्ने भरना या धुँआधार व्याख्यान देना ही महत्त्वपूर्ण होता है। नहीं तो·····नहीं तो·····

'अगर कहीं मैं तोता होता। तो क्या होता !!
तो तो तोतो ता ता ता ता करता और क्या होता।'

आदमी और कुत्ता

शेरू मेरे कुत्ते का नाम है और मैं तो मैं हूं ही। हम दोनों में अनेक तरह की समानताएं हैं। एक कुत्ते और मनुष्य में असमानताएं प्रकृति-सिद्ध हैं। उनके बारे में कुछ कहना व्यर्थ है।

सबसे पहली समानता यह है कि हम दोनों को भौंकने की आदत है। कुत्ते के लिए वह उसका जातीय गुण-धर्म हो सकता है पर मेरा तो यह अर्जित गुण है। पर दोनो के भौंकने की क्रिया में एक विलक्षणता भी है। वह केवल अपरिचितों पर भौंकता है और मैं परिचितों पर। जब वह भौंकता है तो घर के छोटे-बड़े उसे डपटकर, चपत लगाकर या बांधकर चुप कराने का प्रयत्न करते हैं पर मैं तो घर में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हूं, इसलिए मुझे किसी प्रकार के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ता।

मैं अब पचास को पार कर गया हूं, इसलिए वृत्त के लोग अधिसंख्यक ऐसे ही हैं, जिनके लिए मैं ज्येष्ठ हूं। मेरे सफेद बालों ने भी मेरे भौंकने की क्रिया में पर्याप्त योग दिया है। इन कवचों के कारण मैं काफी निरापद ढंग से भौंक सकता हूं।

मेरे एक बन्धु हमारे घर बहुत ही कम आते हैं। यदि कभी आते हैं तो सड़क के बीच खड़े होकर जब तक यह आश्वासन प्राप्त नहीं कर लेते कि कुत्ता बंधा है, तब तक हमारे तोरण द्वार तक भी नहीं आते। इसी तरह मेरे कुछ

सम्बन्धियों की सन्तानें हमारे घर ऐसे ही समय आती हैं जब उनके अनुमान में मैं घर नहीं होता हूं। उनके दुर्भाग्य से कभी-कभी उनका अनुमान 'गलत सिद्ध' होता है और मैं घर पर उपस्थित होता हूं। तब उनकी हालत देखते ही बनती है।

शेरू अपनी सीमाएं समझता है। वह अपने घर की सीमा के भीतर ही अपरिचित आगन्तुकों पर भौंकता है। पर मेरी बात दूसरी है। मैं सड़क पर निकलता हूं तो बच्चे अपने कंचे और गुल्ली-डण्डा छोड़कर समीप के घर में घुस जाते हैं। कुछ भद्र महिलाएँ मुझे देखकर, सावधान होकर सिर पर पल्ला लेने का उपक्रम करने लगती हैं।

कुछ घरों में मेरे नाम का माहात्म्य भी देखने में आया है। माताएं शिशु-कक्षाओं में पढ़ने वाले बच्चों से लेकर कॉलेज में पढ़ने वाले किशोरों तक को, मेरे साथ शिकायत करने का भय दिखाकर विधि-निषेध करती हैं।

यहां तक तो मुझे कभी कोई आपत्ति नहीं हुई पर जब पड़ोस के एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की एक वयोवृद्ध विधवा प्रधानाचार्या ने अध्यापिकाओं को यह कहा कि अमुक श्री—कह रहे थे कि आपके विद्यालय की अध्यापिकाएँ तो लगता है कि प्रतिदिन किसी फैशन शो में भाग लेने जैसी तैयारी करके आती हैं तो यह बात बहुत आपत्तिजनक थी, इसलिए कि मैंने ऐसा कभी भी किसीसे भी नहीं कहा था, और किसी वाक्यांश के रूप में भी नहीं।

मेरे एक कविमित्र जो ललित शब्द-योजना में सिद्ध हैं, एक बार घर आए तो बोले कि मैं कई बार आपके सिंहद्वार पर द्वारसिंह को बैठे देखकर आते-आते मुड़ जाता हूं। ऐसा प्रताप है शेरू का।

एक बार एक साहित्यिक गोष्ठी में, मैं प्रसंगवश शेरू का उल्लेख कर बैठा। बात यह थी कि कुछ तथाकथित साहित्यकार विदेशियों की की फेंकी हुई जूठन खाकर, स्वदेश में वमन कर देते हैं। उन्हें मैंने शेरू से उपमित किया था जो घर का पर्याप्त अन्न खाने के बाद भी जूठन में फेंकी हुई हड्डियां चबाता था और फिर घर आकर वमन कर देता था।

इस उपमा को सुनकर एक बन्धु यह समझ बैठे कि यह सब उन्हें ही लक्ष्य करके कहा जा रहा है और अपशब्द बकने लगे।

कुत्ते स्वयं चाहे कितने भी गन्दे रहते हों, दूसरों में गन्दगी को कतई बर्दाश्त नहीं करते। चीथड़े बटोरने वाले, मैले-कुचैले भिखारी, काषाय वस्त्रधारी—इन सबको गली के शेर कभी पसन्द नहीं करते। मुझे भी दूसरों की कमियां देखने और बखानने का शौक है। यों तो हर कोई अपनी गली में शेर होता है और दूसरे की गली में सियार बन जाता है। पर पता नहीं यह बात सिर्फ कुत्ते की दुम से क्यों बांध दी गई है।

लम्बी नींद के लिए लोग कुंभकर्ण को भले ही स्मरण करते हों, तुरत सो जाने वालों का शिरोमणि कुत्ता ही है। यह शैतान अपनी नींद का कोटा तो पूरा कर लेता है किन्तु जब गैर आशिक (आशिक को नींद कहां !) भद्र पुरुष रात को सो जाते हैं तो यह भौंकना शुरू कर देता है। मजा यह कि एक ने आवाज लगाई तो बिरादरी के सभी बन्धु बोल पड़ेंगे। इससे यह परिणाम निकालने की भूल न करें कि उनकी बिरादरी का संगठन बड़ा मजबूत है। जैसे राजनैतिक पार्टियों के लोग किसी एक नारे को उछालने में तो संगठित होते हैं किन्तु वैसे एक दूसरे को काटने को दौड़ते हैं, वही हाल इनका है। कवि समय है कि कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं होती। इस वैज्ञानिक युग में भी लेखक इसे ज्यों का त्यों मानते चले आ रहे हैं। किसी

भी प्रगतिशील साहित्यिक संस्था ने इस प्रयोग द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न नहीं किया। हालांकि इतना तो कहा ही जा सकता है कि पागल कुत्ते की दुम सीधी हो जाती है।

मेरे एक मित्र जिन्हें सेहत बनाने का शौक है, सवेरे मुंह-अंधेरे सैर को निकल जाते थे। करनी भगवान की कि उन्हें पागल कुत्ते ने काट लिया। उन्हें इंजैक्शन लग रहे थे किन्तु सैर करना बदस्तूर जारी था। प्रातःकालीन भ्रमण को अधिक सुखद बनाने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी को भी कहा कि वह भी सवेरे जल्दी उठा करे और सैर को चला करे। पत्नी ने सहज भाव से कहा, "मुझे कोई पागल कुत्ते ने काटा है जो ऐसी ठंड में ठिठुरने के लिए निकलूं।" लेकिन साधारण-सी बात, पागल कुत्ते के काटे पति महोदय को बुरी तरह काट गई। एक घाव कुत्ते के काटे का था, हर रोज एक नया दर्द डाक्टर की लम्बी सुई दे जाती थी, तीसरा घाव पत्नी की जबान ने कर दिया था और आप जानते हो हैं कि जबान से हुआ घाव कभी नहीं भरता।

अगर आप इस गलतफहमी का शिकार अब तक न हुए हों तो भविष्य में भी मत होना कि जो भौंकते हैं, वे काटते नहीं। जनाब, अब जमाना बदल गया है और सभी तरह के कुत्ते काटने को दौड़ते हैं।

द्वारपाल कुत्ता हो या मनुष्य, अगर आप उससे डरेंगे तो वह आपको भीतर घुसने नहीं देगा। और अगर बेझिझक घुस पड़ेंगे तो कुछ नहीं कहेगा। किन्तु यदि आपको कभी इसके विपरीत परिस्थिति का सामना करना पड़े तो आप मुझे दोषी न ठहराएँ।

कुत्तों की यद्यपि अनेक किस्में हैं पर मौटे तौर पर भारत में उन्हें देसी और विलायती के नाम से जाना जाता है। जैसे

हमारे यहां देसी भाषा-भूषा, आचार-विचार, वस्तु-उपकरण, शिक्षा-संस्कृति सभी को हेय दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही देसी कुत्तों को भी। प्रायः देखा गया है कि देसी कुत्तों के विलायती नाम रखकर और उनके साथ अंग्रेजी बोलकर उनका रुतबा बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। पर जो असली विलायती नस्ल के हैं, वे सिर्फ अंग्रेजी समझते हैं और यदि हिन्दी समझ भी रहे हों तो भी वे ऐसा अभिनय करते हैं कि आपकी बात उनकी समझ में नहीं आई।

कितने ही धनी-मानी भद्रजनों के तोरण द्वार पर आपने 'कुत्ते से सावधान' की तख्ती लटकी देखी होगी। यह कानूनी किस्म की चेतावनी है। और भीतरी खतरे की ओर संकेत करती है। दूसरों के संकेतों को समझना ही बुद्धिमत्ता की पहचान है।

कुत्तों की कुछ नस्लें ऐसी भी हैं, जो बिल्कुल खतरनाक नहीं होतीं। इस तरह के कुत्ते मेम साहब पालती हैं। इन्हें खिलौने कुत्ते कहा जा सकता है। और यह जरूरी समझा जाता है कि मेम साहब का कृपा-पात्र बनने के लिए उनके कुत्ते को प्यार करना होता है।

किंवदन्ती है कि कुत्ता लैला ने भी पाल रखा था। जाहिर है वह मजनूं को पहचानता होगा और भौंकता नहीं होगा।

लाइका कुतिया की लाइकी जग जाहिर है।

एक कुत्ता वह भी था जो स्वर्गारोहण के समय पाण्डवों के साथ हो लिया था। यह तो बाद में पता लगा कि धर्म ही कुत्ते का रूप बनाकर आया था। इसीलिए तो सन्तों ने कहा है 'न जाने किस रूप में नारायण मिल जाय' भगवान गीतानाथ ने स्पष्ट कहा है कि कुत्ते और चाण्डाल में पण्डित लोग समदर्शी होते हैं। (दरअसल कहा यह है कि ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते

और चाण्डाल में समदर्शी होते हैं) जाहिर है, तब छूआछूत रही होगी। अब कानूनी तौर पर तो हमने उसे समाप्त कर ही दिया है। यों हरिजनों के जलाए जाने की गैर कानूनी घटनाएँ होती ही रहती हैं सो दूसरी बात है। नौकरियां देने से ही इस समस्या का समाधान नहीं होगा। जब तक सभी हरिजन नेताओं को मुख्यमंत्री, राज्यमंत्री आदि नहीं बना दिया जाता, समस्या बनी ही रहेगी।

हम अपनी बात वेदों से शुरू नहीं कर सके, समाप्त तो कर ही सकते हैं। इन्द्र की जासूस कुतिया थी शुनी। एक बार आचार्य बृहस्पति की गायों को असुर-चुराकर ले गए थे। जब उनकी पुलिस घूस खाकर ढोर-चोरों को नहीं पकड़ रही थी तो इन्द्र ने शुनी को पता लगाने भेजा। उसको फुसलाने के भी अनेक प्रयत्न किए गए पर उस पर कोई असर नहीं हुआ। आज भी स्थिति ज्यों की त्यों है। तभी तो जहां पुलिस वाले असफल हो जाते हैं, उनके कुत्ते पता लगा लेते हैं।

कुत्तों की स्वामीभक्ति इतिहास प्रसिद्ध है। क्रान्ति के इस युग में यह है तो प्रतिगामी कदम—जो है सो है।

मित्र! आप कितने ही सावधान रहें। यमराज के दो कुत्तों : एक सफेद और दूसरा काला : से बच नहीं सकते। बचने का एक ही उपाय है। टिकट लगा और पता लिखा लिफाफा भेजने पर कुछ गिने-चुने लोगों को बताया जा सकता है।

□

लौट के बुद्धू घर को आए

मेरा ख्याल था कि डॉ० श्रीदेव ने जो 'कहावतों की कहानियां' लिखी हैं, उनमें घर को लौट आए बुद्धू की कहानी अवश्य होगी, पर यह मेरी खामख्याली थी।

पता नहीं क्यों, पिछले कोई महीने भर से यह जानने की बेकली रहती है कि बुद्धू का बुद्धूपन क्या था, वह कैसे घर से बाहर गया और फिर किन कारणों से असफल होकर लौट आया ! इतने सारे प्रश्न हैं जो जवाब तलब कर रहे हैं और मैं लाजवाब हूं।

मैं इन सवालों के जवाबों की तलाश में हूं और चाहता हूं कि आप भी मेरे सफर के साथी बनें।

मुझे मेरे कई शुभचिन्तकों ने सलाह दी है कि तलाश खोए हुए की होती है, लौटे हुए की नहीं। पर क्या करूँ 'मन न भए दस-बीस। एक हुतो सो उरझि गयो है।' मन को स्थिर-शान्त करने के लिए मैंने सन्तों की वाणी का सहारा लिया तो कबीर कहते मिले :

कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपना, सो चले हमारे साथ ॥

क्या ढूंढने चले थे और क्या मिला ! गणेश की मूर्ति बनाने लगे, पर बन गई बन्दर की। घर लौटने का प्रसंग था पर कबीर हैं जो घर जलाने को कहते हैं। सन्तों की गति-मति हम सद्-गृहस्थों से एकदम उलटी होती है।

बुद्धू मियां को जब हमने बताया कि सन्त कबीर घर जलाने की सलाह देते हैं तो वे तपाक से बोले, "हम यह पहले ही कर चुके हैं। घर फूंक तमाशा देख चुके। अपने ही घर की आग से हमने खूब हाथ सेंके। और इस घर को आग भी घर के चिराग से ही लगी थी।"

मैं समझता हूं कि इस कहावत में बुद्धू निखट्टू का पर्यायवाची होना चाहिए। अक्सर देखा गया है कि बुद्धू लोग जीवन में असफल होते हैं। ये बुद्धिहीन लोग दम्भी भी होते हैं। इनके दम्भ भरे वचनों को सुनकर इनकी भाभी इन्हें ताना देती देखी जाती है। (लोक-कथाओं में) और ये घर छोड़ बैठते हैं। यों ये चाहे अपने को कितना ही बलवन्त कहें पर बिना बुद्धि की, यह परजापति की सृष्टि सदा अपमान और असफलता ही पाती है। तभी तो नीतिकारों ने कहा था, 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'। बुद्धि के बारे में मजेदार बात यह है कि यह बाजार में नहीं बिकती। अपने पास हो तभी काम आती है। चाणक्य ने कहा था,—'बुद्धिस्तु मा गान्मम'। मेरी बुद्धि न जाए, और चाहे सब कुछ चला जाय।

बुद्धुओं की एक पहचान यह है कि इनका आगा शेर का और पीछा गीदड़ का होता है। पर जो लोग आगा-पीछा देखकर बात करते हैं, वही इन्हें पहचान पाते हैं। 'हम यह कर देंगे और वह कर देंगे' इनका तकिया कलाम होता है।

कपड़ों से ढके हुए और किसी महान वृक्ष की छाया में बैठे हुए बुद्धू को पहचानना कठिन होता है। तब तक जब तक वह कुछ बोलता नहीं। पर बुद्धू को इतनी समझ कहां कि वह चुप रहे।

बहुत पुरानी बात है, एक शेर सुना था। किसका है ठीक-ठीक मालूम नहीं, पर तर्जे बयां से लगता है कि हो न हो अकबर इलाहाबादी का ही हो। शेर यों है :

बुद्धू मियां भी हजरते गांधी के साथ हैं।
खाके मुश्त हैं मगर आंधी के साथ हैं।।

यह शेर महात्मा गांधी के आन्दोलनों के वक्त लिखा गया था। किन्तु श्रीमती इन्दिरा गांधी और राजीव गांधी के राज्य काल में भी उतना ही उपयुक्त है।

कितने ही बुद्धू मियां उनके साथ बन्धकर पतंग की तरह ऊँचे चढ़े और इतराते फिरे। ज्योंही उन्होंने डोर को छोड़कर अपने बलबूते पर उड़ना चाहा, चक्कर घिन्नी खाकर जमीन पर आ गिरे और धूल चाटने लगे।

क्रिया की सिद्धि सत्वशाली व्यक्तित्व में छिपी होती है, साधनों में नहीं।

हमने कई बुद्धुओं को थूक निगलते देखा है। यह कोई बहुत ग्लानि पैदा करने वाला नहीं होता। पर अपने वमन किए को दोबारा चाटना द्वारसिंह का ही काम है।

हमने तथाकथित बुद्धिजीवियों को द्वारसिंह वाली क्रिया करते देखा है। फिर बुद्धू मियां ने ऐसा कर ही लिया तो क्यों बात का बतंगड़ बनाएँ। बुद्धू मियां कोई राजपूत तो हैं नहीं जो आन-बान के पक्के होते थे। अब तो इसी में भलाई है कि झुक जाओ पर टूटो नहीं। □

पब्लिक स्कूल बनाम विद्यादान

मुल्ला नसिरुद्दीन को धर्मोपदेश बिल्कुल नहीं सुहाता। पर आप जानते ही हैं कि बहुत-से काम जिन्हें व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं करता, पत्नियों के कहने, रूठने, धमकाने, रोने, जिद करने से कर लेता है। (अपने मतलब का उपयुक्त शब्द छांटकर बाकियों को काट दीजिए) तो, पत्नी अड़ गई और मुल्ला को धर्मोपदेश सुनने जाना पड़ा। विषय था—'दान की महिमा' उपदेश सुनकर मुल्ला बहुत प्रभावित हुआ। पत्नी भी सन्तुष्ट दिख रही थी कि अब वह भिखमंगों को भीख तो दे सकेगी।

मुल्ला ने स्वयं ही कहा, "आज के उपदेश का मुझ पर गहरा असर पड़ा है।" पत्नी विजय-गर्व से प्रसन्न थी। पूछ बैठी, "तो कल से दान करना शुरू करोगे न ?"

"धत् पगली ! मैं कल ही रसीद बुकें छपवा रहा हूं ताकि परसों से दान मांगना शुरू कर दूं।

हमने भी जब 'हितोपदेश और पंचतंत्र' में विद्या की महिमा पढ़ी तो विद्यादान करने की मन में ठान ली। अपने ही पुराने मकान में आगे-पीछे की खाली जगह को चादरों से पाटकर ऐसा बना दिया कि हवा और रोशनी भीतर न घुस सके। फिर सवाल था नाम रखने का। हमने पाया, सारे प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल किसी-न-किसी ईसाई सन्त के नाम पर हैं। तो हमने अपने स्कूल का नाम 'दयानन्द पब्लिक स्कूल' रख मारा। स्वामी दयानन्द ने शिक्षा का प्रचार तो किया हो, स्त्री-शिक्षा पर भी विशेष बल दिया था। इसलिए हमने अपने पब्लिक स्कूल का

मीडियम का सवाल था, हमें दयानन्द कुछ पोंगापंथी लगे। खैर, उनके शिष्यों ने यथासमय भूल सुधार ली है और हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी को महत्त्व देकर अपने प्रगतिवादी होने का प्रमाण दिया। हमने भी अंग्रेजी मिडियम द्वारा ही विद्यादान करने का निश्चय किया। और बोर्ड पर साफ लिख दिया—'मीडियम इंगलिश'। यों आप जानते ही हैं कि हम इण्डियन क्लचर के हामी हैं। पर जनाब, आप यह क्यों भूलते हैं कि 'इण्डियन क्लचर' की धारणा अंग्रेजों की दी हुई है। इसलिए यह जरूरी है कि जब तक अंग्रेजी वाले आपके क्लचर को नहीं अपनाते, उसकी कौड़ी कीमत नहीं, इण्डिया में तो बिल्कुल ही नहीं। टैगोर को जब तक विदेशियों ने नहीं सराहा, हमारे यहां कौन पूछता था! जगदीशचन्द्र बसु, चन्द्रशेखर वेंकटरमन किसीको भी ले लीजिए।

हम विद्यारूपी ऐसा धन दान करना चाहते थे जिसे चोर छीन न सकें, इन्कमटैक्स वाले टैक्स न लगा सकें, सेलटैक्स वालों का वश भी न चले, भाइयों में बंटवारा हो तो भी इसे कोई न बांट सके। खाने-पहनने की चीज भी वह नहीं है जो खर्च हो जाए, कम हो जाए या कट-फट जाए। जितना खर्चो, उतना बढ़े। ऐसा अमूल्य है—विद्याधन। और इसी के दान की हमने मन में ठान ली है। पश्चिम की देखादेखी हमारे यहां भी बिना मोल की चीज की कोई कदर नहीं करता। साब! विद्या की कदर तो होनी ही चाहिए और जो चीज़ जितनी मंहगी होगी, उतनी ही उसकी कदर भी ज्यादा होगी। यही सोचकर हमने विद्या की कदर बढ़ाने का फैसला किया।

हम इस बात से बाखबर थे कि कुछ लोग पब्लिक स्कूलों से खार खाए बैठे हैं और अंग्रेजी नौलेज की गाडस के इन टैम्पल्स

को दुकानें कहते हैं। हमने एक एजूकेशन सोसायटी बनाकर रजिस्टर्ड करा ली और अपने ही लोगों को मैम्बर बना लिया। वहां भी उनकी बोलती बन्द कर दी। लगे हाथ स्कूल के लिए एक बड़े प्लाट को अलाट करने की अर्जी भी सरकार को दे दी। इस तरह एक ही ढेले से हमने कई शिकार कर डाले। कोई कहे कि आपके स्कूल की बिल्डिंग उपयुक्त नहीं है तो हम कहेंगे जल्दी ही नई बिल्डिंग बनने वाली है। हमारे स्कूल का भविष्य उज्ज्वल है। और सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि स्टूडेण्ट्स से हमने बिल्डिंग फण्ड भी लेना शुरू कर दिया। अरे भई, अपने को क्या लेना-देना है। इससे स्टूडेण्ट्स को ही फायदा होने वाला है।

अच्छा, अब जरा आप ही बताइए कि जब विद्या जैसी अनमोल चीज के बदले जिससे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों हमारे स्कूल में पढ़े हुए स्टूडेण्ट्स मालामाल होने वाले हैं, ट्यूशन फी, बस-किराया, बुक्स, स्टेशनरी, यूनीफार्म, स्पोर्ट्स, पिकनिक, बैरायटी प्रोग्राम और बिल्डिंग-फंड के नाम पर यदि हम उनसे कुछ सौ रुपये ले भी लेते हैं तो क्या गुनाह करते हैं। और फिर इस नाशवान् धन के बदले, उन्हें जो अनश्वर सम्पत्ति देते हैं उसका कुछ ठिकाना है।

अच्छा, एक बात बताइए, अगर पब्लिक स्कूल दुकानें हैं तो ये बेतहाशा ग्राहक क्यों टूटे पड़ते हैं! वे हमारा मंहगा सौदा क्यों खरीदते हैं। नवजात शिशु का नामकरण करने से पहले ही हमारे यहां नाम दर्ज क्यों करवाते हैं! हमारे यहां के 'क्यू' में लोग सालों इन्तजार करते रहते हैं। हां, हमारे यहां एक और मद भी है जिसे 'डोनेशन' कहते हैं। जब ग्राहक किसी तरह नहीं मानते तो हम डोनेशन की शर्त लगा देते हैं। पहले बच्चे के माता-पिता अपनी नं० 2 की कमाई से दान दें तब हम उन्हें

विद्यादान देंगे। इस हाथ दे, उस हाथ ले, यह सौदा नकद ब नकदी है। अब आप ही बताइए कि अपनी अन्धा-धुन्ध कमाई के पैसे कोई यों ही किसी को देता है !

दरअसल 'पब्लिक स्कूल' नाम में पब्लिक शब्द न तो पब्लिक सैक्टर वाले 'पब्लिक' शब्द का पर्याय है और न ही पब्लिक मान 'जनता' है। हमें न तो सरकार से कुछ लेना-देना है और न ऐसी-वैसी जनता से ही। हमें तो आंख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों की सेवा करनी है। रही बात 'पब्लिक' शब्द की तो इसमें हमें माथापच्ची करने की क्या जरूरत है। जहां से पब्लिक स्कूल की धारणा आई, वहीं से यह शब्द भी चला आया। हमें नकल करनी थी सो कर ली। नकल में अक्ल को क्या दखल।

स्वामी दयानन्द के चेलों ने गुरुकुल खोले पर अपने बच्चों को वहां नहीं पढ़ाया। यों अपवाद सब जगह होते हैं। स्टेज पर जो कहा जाता है, वह लोगों के लिए, घर पर जो किया जाता है, वह अपने लिए।

भाषणों में पब्लिक स्कूलों का विरोध करने वाले, भारतीय संस्कृति और सभ्यता के तथाकथित पुजारी भी अपने बच्चों को पढ़ाते पब्लिक स्कूलों में ही हैं। साधारण स्कूलों में पढ़े हुए प्रतिभाशाली और उच्च पदस्थ लोग भी मानते हैं कि सरकारी स्कूलों में पढ़ाई-लिखाई ठीक नहीं होती। फिर भी पता नहीं हम सरकारीकरण का पक्ष क्यों लेते हैं।

पब्लिक स्कूलों के स्टूडेण्ट्स अपनी ड्रेस, अंग्रेजी बोलने के अनोखे ढंग और आक्रामक स्वभाव के कारण सब जगह महत्व पाते हैं।

'कन्वेंट एजूकेटिड' लड़कियों को ब्याहने वालों की संख्या खूब बढ़ रही है। और आजकल बेटी को ब्याहना कितना कठिन है, यह किसीसे छिपा नहीं है।

नौकरी हो या शादी, पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुओं को सब जगह प्रैफ्रेंस मिलता है। फिर भला जो समरथ हैं, वे क्यों न पढ़ाएं। 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं।'

श्रीमान्! जब से अंग्रेज इस देश से गए हैं, अंग्रेजी पढ़ने वालों की संख्या में चमत्कारिक ढंग से वृद्धि हुई है। उनके जाने से इस वृद्धि का क्या अन्तःसम्बन्ध है, यह नहीं बताऊंगा।

हर दुकानदार जानता है कि व्यापार में 'डिमाण्ड और सप्लाई' का सिद्धान्त काम करता है। अब अगर आप दुकानदार नहीं हैं तो हमारी दुकानदारी खराब करने पर क्यों तुले हुए हैं। क्या वह 'अव्यापारेषु व्यापारम्' नहीं है।

एक दिन एक सज्जन नस्ल के हमारे शुभचिन्तक कह रहे थे कि जिस दिन 'राइट टाइप ऑफ गवर्नमेंट' इस देश में आई, ये दुकानें बन्द कर दी जाएंगी।

हमें उनकी बात सुनकर उनके भोलेपन पर हँसी आ गई। यह नौकरशाही, जिसकी स्थापना अंग्रेजों ने की थी और अंग्रेजी जिसका प्राण है, ऐसा कभी नहीं होने देगी। नेता भी तो मन से यह नहीं चाहते। और पश्चिम में बने हमारे शिक्षाशास्त्री यह सब अपनी आंखों के सामने होने देंगे क्या!

नेताओं का काम है प्रजारंजन। उन्हें सबके वोट चाहिए। उनसे पब्लिक स्कूल का उद्घाटन करवाइए तो वे पब्लिक स्कूलों के गुण गाएंगे। कमेटी के विद्यालय का उद्घाटन करेंगे तो उनके। उन्हें सचाई से क्या लेना देना है। फिर उनकी कुछ विवशताएं भी तो हैं। आपसे क्या छिपा है। बंगाल में अंग्रेजी हटाने की बात उठी थी तो कैसा हंगामा मचा। सब 'बुद्धिजीवियों की बुद्धि चरने चली गई। कलकत्ता में हुए 'अखिल भारतीय भाषा एवं शिक्षा-सम्मेलन' में डॉ० सुकुमार सेन ने कह डाला—"यदि सरकार ने प्राथमिक स्तर से अंग्रेजी उठा दी तो बच्चे

अंग्रेजी किस तरह सीख सकेंगे। अकेली अंग्रजी ही तो है जिसने राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से देश को एक सूत्र में बांध रखा है। अब कोई यह कहे कि मातृभाषाओं के विकास के लिए प्राथमिक स्तर से ही अंग्रेजी की पढ़ाई आवश्यक है, तो देश के हित में हमारा योगदान है न अंडरलाइन करने योग्य। आदमी को सभ्य होना चाहिए। सभ्य वह तभी हो सकता है जब उसे सभ्यता सिखाई जाएगी। और सभ्यता अंग्रेजी के बिना आ सकती है कभी भला ! अजी, राम जपो।

हम तो विद्यादान कर रहे हैं। विद्यादान सर्वोपरि है।

□

स्वामी विवेकानन्द

भारतीय इतिहास के उस संकटकाल में, जब हम विदेशियों से पराजित और प्रभावित होकर उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण करने में लगे हुए थे, हमें अपना सब कुछ बुरा और उनका सब कुछ भला लगने लगा था; हम बन्दर की तरह हर बात में नकल कर रहे थे, देश, धर्म और जातीय गौरव को न केवल भूलकर अपितु निन्दनीय और त्याज्य समझकर उसके प्रति घृणा और अनादर से भर उठे थे; अपनी यशस्वी सांस्कृतिक परम्परा के ज्ञान और गौरव से शून्य हो चुके थे; ऐसे अमावस्या की रात्रि जैसे घोर अन्धकार के समय में जिन प्रातःस्मरणीय पूतात्मा संन्यासी ने हम पथभ्रष्टों को अपनी ज्ञान-ज्योति से प्रकाश दिया, पथ दिखाया और अपनी अमृत संजीवनी तुल्य वाणी से मृतवत, भूलुंठित-अपमानित कोटि-कोटि देशवासियों की चेतना को लौटाया—उन्हें दर्पण के सामने खड़ा करके उनका वास्तविक स्वरूप दिखाया और उन्हें जीवित-जागृत राष्ट्र के घटक के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया, उन तपः पूत राष्ट्र-पुरुष को हमारा प्रणाम ! शत प्रणाम !! शत-शत प्रणाम !!!

स्वामी विवेकानन्द का नाम सुनते ही आंखों के सामने एक ऐसा चित्र उभरता है जिसकी तुलना करना कठिन है। हमारे सारे प्रतीक और उपमान मिलकर भी उनकी गौरव-गरिमा का आख्यान करने में असमर्थ ठहरते हैं। उनका भौतिक शरीर भी दिव्य था। इन्द्र के वज्र से निर्मित उनकी पुष्टकाया अपूर्व

तेज से भास्वर थी। उनके नेत्र सूर्य-चन्द्र की ज्योति जैसे अग्नि और अमृत के समान गुणधर्मा थे। वे राजकमल जैसे सुन्दर और नागराज जैसे मुग्धकारी थे। उनकी पलकें यद्यपि बड़ी-बड़ी थीं, पर करुणा-विगलित अश्रुबिन्दुओं को रोकने में सदा असमर्थ रहीं। उनकी भ्रुकुटियां उठी हुई, कुछ धनी और अर्जुन के गाण्डीव की तरह तनी हुई थीं।

उनका चौड़ा माथा सुवर्ण पत्र पर लिखे भारत-भाग्य के लेख जैसा था। उनका मस्तक कोटि-कोटि मन्दिरों और तीर्थों में प्रणत होकर परम पावन बन गया था। वे स्वयं भी जंगम तीर्थ बन गए थे।

उनके संपुटित ओठ सत्या वाक् के हिरण्मय पिधान जैसे प्रभोज्ज्वल थे। वे ओठ इस द्रष्टा ऋषि के मंत्रों का गान करने के लिए समुत्सुक-से जान पड़ते थे। उनके सान्निध्य में कुछ ऐसी शक्ति थी कि बहुत-सी अनकही बातें भी हृदय में पैठ जातीं। जैसे अखण्ड आत्मा के बीच इन्द्रियग्राम की अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है। उनके कान श्रुति से पूर्ण और मंत्र-दीक्षा से दीक्षित थे। उनकी वाणी में जैसे साक्षात् वाग्देवता का निवास था। उनका सारा शरीर तितिक्षा, साधना और योग से भावित होकर अनन्त भाव का आश्रयस्थल बन गया था। उनकी द्विधा-विभक्त चिबुक, ओष्ठमध्य, नासिकाग्र और भ्रूमध्य के बीच एक एक ऐसी तीखी रेखा का आभास होता था जैसे समभाग देव और मानव के योग से इनका आविर्भाव हुआ हो।

माथे की बीचोंबीच उनका तृतीय ज्ञाननेत्र प्रयागराज में गंगा और यमुना के साथ अदृश्या सरस्वती की धारा की तरह अदृश्य रूप से विद्यमान था। उनके विशाल कन्धे सारे राष्ट्र का भार उठाने में समर्थ थे। उनका चौड़ा हृदयप्रदेश मानव-मात्र के लिए अनन्त करुणा से परिपूर्ण था। उनका हृदय प्रत्येक मानव के दुःखकष्ट से स्पन्दित था। 'यत्र जीवः तत्र शिवः' के

मंत्र-द्रष्टा इस महर्षि के अन्तर्यामी इसी हृदय में सन्निविष्ट थे। उनकी विशाल बाहें जहां उनके कर्मयोग का आख्यान-सी करती प्रतीत होती थीं, वहां वे सारे विश्व को अपनी परिधि में लेने के लिए भी आतुर थीं। उनकी पुष्ट जंघाओं में वायुदेव की गति थी। वे मूर्तिमती 'चरैवेति चरैवेति' ऋचाओं के तुल्य थीं। उनके चरण आसेतु-हिमाचल विस्तृत भारतभूमि की प्रदक्षिणा से कृतार्थ थे। अपनी तपश्चर्या से वे स्वयं भी पूज्यपाद थे। उनकी चरणधूलि को माथे पर लगाकर लोग अपने को कृत-कृत्य अनुभव करते थे।

यद्यपि वे देहवादी नहीं थे तथापि उन्होंने जन-जन के लिए अन्न-वस्त्र की आवश्यकता को सर्वोपरि स्थान दिया। यद्यपि महामना पुरुष देश और काल से परे होते हैं तथापि उन्होंने अपने देश और काल की उपेक्षा नहीं की। भगवान वाराह की तरह उन्होंने अधोगति को प्राप्त इस भारतभूमि का उद्धार कर अपने को सहज ही अवतारकोटि के महापुरुषों में सम्मिलित कर लिया है। स्वधर्म की पुनः प्रतिष्ठा के यशस्वी कार्य को करने के लिए ही जैसे उनका आविर्भाव हुआ था।

कटिप्रदेश में उत्तरीय बांधे हुए, उन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे इस भारतभूमि के उद्धार के लिए ही उन्होंने कमर कस रखी है। उनके गैरिक वस्त्र जहां त्याग के प्रतीक थे वहां नवोन्मेष के अरुणोदय का भी आभास देते थे। उनके सिर की गैरिक पगड़ी राजाधिराजों के मणि-मुक्ता-मण्डित मुकुटों से अधिक गौरवशालिनी थी। अनेकानेक राजा-महाराजाओं ने अपने मुकुटों को उनके चरणों के स्पर्श से पवित्र किया था। भगवान कार्तिकेय की तरह भारत-भूमि के उद्धार के लिए शिव-शक्ति ने अपने हाथों उनको सिरजा था। वे देव-कार्य के लिए ही आए थे।

ज्ञान, कर्म और भक्ति के वे मूर्तिमन्त संगमस्थल थे। व बालक जैसे सरल, दृढ़चेता योगी थे। उन्होंने सेवापथ का अनुसरण किया था, मोक्ष तो अनुचर की भांति उनके पीछे-पीछे चला आया था। कामनाओं के त्याग की शृंखला में उन्होंने परमगति की कामना का भी त्याग करके नये युग-धर्म की स्थापना की थी। 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' ही उनकी मंत्र-दीक्षा थी। वे 'सर्वभूतहिते रतः' रहकर पिण्ड में ही परमेश्वर का साक्षात्कार करते थे। वे ब्रह्मविद् थे और स्वयं ब्रह्म। वे अर्वाचीन काल के ऋषि थे। वे योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। उन्होंने सर्वात्मभावेन अपने को गुरु-कार्य के लिए समर्पित किया था। यद्यपि उनका प्रातःस्मरणीय नाम विवेकानन्द था, पर वे नाम-रूपातीत परमपुरुष थे। जैसे नदी समुद्र में मिल-कर अपने नाम-रूप से विमुक्त हो जाती है वैसे ही वे भी समत्वयोग से सम्पन्न स्थितप्रज्ञ थे। भगवान शंकर के सन्देश को दिग्दिगन्त तक ले जाने वाले वे देवदूत थे। वे भारत के अमृत सन्देश के वाहक प्रथम दूत थे। वे स्वयं अमृत थे। अमृतमय। उनकी वाणी अमृतवर्षिणी थी। उनका दर्शन अमृतोपम था।

वेद, उपनिषद, दर्शन और गीता के तत्वज्ञाता वे रूढ़ियों के विरोधी थे किन्तु स्वस्थ परम्पराओं के पोषक। सभी नया अच्छा है और सभी पुराना बुरा है, ऐसी ओछी बुद्धिवालों के वे विरोधी थे। वे हिन्दू जाति को उसकी राष्ट्रीय भूमिका के लिए सन्नद्ध कर उसे सबल, सगौरव देखना चाहते थे। एक भी भूखा-नंगा इस देश में न रहे, वे उस दिन को पास लाना चाहते थे। वे अशिक्षा, अज्ञान, अकर्मण्यता और दैन्य को दूर भगाना चाहते थे।

वे व्यक्ति नहीं, संस्था थे। वे युगद्रष्टा और युगप्रवर्तक थे।

वे समन्वयसाधक, ब्रह्मवेत्ता थे। वे भारतीय जागरण के नान्दीपाठ के गायक थे। भारतीय नवोन्मेष की दाग-बेल डालते समय वे सूत्र के एक छोर को खींचकर अमेरिका, इंगलैंड और पेरिस तक ले गए थे। भारत को दोबारा व्यास पीठ पर—गुरु की गद्दी पर बैठाने का तथा विश्व को अमर संदेश देने का सौभाग्य इन्हीं पुण्यात्मा को है। ऐसे थे हमारे स्वामी विवेकानन्द जो अपनी दिव्यता और भव्यता के लिए कल्पान्त तक याद किए जाएंगे।

□

कलायोगी आनन्दकुमार स्वामी

भारतीय कला जो विदेशियों के आघात से अपनी स्मृति और वाणी दोनों को खो चुकी थी, उसे पूर्वाबोध, नवलकंठ और नवलस्वर प्रदान करने का पुनीत कार्य डा० आनन्दकुमार स्वामी ने किया।

चार दशकों की उनकी कलायोग की साधना के पुण्य स्वरूप न केवल पश्चिम ही, अपितु पूर्व भी अपने ही कलावैभव से परिचित हुआ, उन्होंने कला में सार्वभौम चिरंतन सूत्रों को खोज कर पूर्व और पश्चिम के बीच सेतु निर्माण का महान कार्य सम्पन्न किया। वे कला और संस्कृति के स्तर पर मानवीय संवेदना की एकात्मकता के सूत्रधार बने, वे स्वयं विश्व नागरिक का जीवन जिये। उनका मस्तिष्क पश्चिम के विज्ञान से और हृदय भारतीय भावचेतना से भावित होने के कारण वे दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने में सफल हुए।

डॉ० कुमार स्वामी का जन्म 22 अगस्त, 1877 को श्रीलंका में भारत मूल के पिता और अंग्रेज माता से हुआ। पिता श्री मुत्तुकुमार स्वामी मुदालियर इंगलैंड में बैरिस्टरी पास करने वाले प्रथम श्रीलंका निवासी थे, उनका विवाह केंट प्रान्त की अंग्रेज युवती से हुआ था। आनन्दकुमार स्वामी के जन्म के दो वर्ष बाद ही उनके पिता का देहान्त हो गया। उनका लालन पालन अंग्रेज माता की देख-रेख में इंगलैंड में हुआ और वहीं

शिक्षण भी। भू-गर्भ विज्ञान और वनस्पति विज्ञान में बी०एल०सी० की सम्मानित उपाधि प्राप्त कर कुमार स्वामी 1903 में श्रीलंका वापस आये। यहां वे खनिज विभाग में संचालक पद पर नियुक्त हुए और मनोयोगपूर्वक कार्य करने लगे। खनिज सम्बन्धी कार्य में विशिष्ट सेवा के कारण लंदन विश्वविद्यालय ने उन्हें डी०एस-सी० की उपाधि से सम्मानित किया। खनिज विभाग में सेवा करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण श्रीलंका की कला और शिल्प नामशेष होते जा रहे हैं। उन्होंने पुरखों की इस थाती के संरक्षण का दृढ़ संकल्प किया और इस प्रकार राष्ट्रीय और स्वदेशी के पोषक के रूप में जनता के सामने आए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक संस्था भी स्थापित की। 'सीलोन नेशन रिव्यू' नामक पत्र के सम्पादन और संचालन द्वारा नवोन्मेष के कर्णधार बन कर नवयुवकों का पथ-प्रदर्शन किया। विज्ञान के राजमार्ग से कला-वीथी में उनके प्रवेश का यह आरम्भ था।

सरकारी नौकरी को उन्होंने अपने मार्ग की बाधा समझ कर त्यागपत्र दे दिया और कलायोग की साधना में प्रवृत्त हो गये।

श्रीलंका के कला-वैभव का अध्ययन करते समय उनका परिचय भारतीय कला से हुआ। फिर क्या था, वे उसके मुग्धकारी सौन्दर्य से अभिभूत हो उठे और उनका शेष जीवन इस बात का साक्षी है कि भारतीय कला का यह सम्मोहन उन्हें जीवन भर पकड़े रहा। दूसरी बार 1910 में 'इण्डिया सोसायटी ऑफ ओरियंटल आर्ट' के निमन्त्रण पर वे फिर भारत आए। इस बार इलाहाबाद में हो रही अखिल भारतीय प्रदर्शनी के अन्तर्गत कला-कक्ष के संयोजन का कार्य उन्हें सौंपा गया। इस उपलक्ष्य में कलाकृतियों के संग्रहार्थ उन्हें भारत-भ्रमण का

अवसर मिला और वे चित्रों तथा मूर्तियों का सुन्दर संग्रह करने में सफल हुए। इसके परिणामस्वरूप 1910-12 में 'इण्डियन ड्राइंग्स' के नाम से दो भाग प्रकाशित हुए। अगले ही वर्ष, 'आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड सीलोन' नामक कृति प्रकाश में आई।

इन दिनों उनका मन-मस्तिष्क नये-नये विचारों और कार्य क्षेत्रों की ओर अग्रसर हो रहा था और हृदय में कुछ कर पाने की साध दिनों-दिन बलवती होती जा रही थी।

कांगड़ा और राजस्थानी चित्रों को देखकर डॉ० कुमार स्वामी की भाव-प्रवण सौंदर्यदृष्टि चमत्कृत हो उठी। उन्होंने इन दोनों ही शैलियों को राजपूत चित्रकला के नाम से अभिहित किया। उन्होंने सर्वश्रेष्ठ को पा लिया था और अब उसे विविध कोणों से देख-परखकर उसके अंतर्हित सत्य, शिव और सुन्दर का आख्यान करना शेष था। जिस सौंदर्य-राशि को देखकर वाक् अवाक् हो गयी थी, उसी के गुणानुवाद में वह मुखर हो उठा।

श्रीलंका से सरकारी नौकरी छोड़कर कुमार स्वामी वापस इंग्लैंड चले गए। वहां वे पुरातन अंग्रेजी कला और संस्कृति के संरक्षण-कार्य में लगे हुए दो मनीषियों—रस्किन तथा विलियम मारिस के संपर्क में आए और उनके कार्य से प्रभावित हुए। सिंहल की कला और स्थापत्य के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक लेख लिखे। 1908 ई० में प्रकाशित उनकी रचना 'मध्ययुगीन सिंहली कला' में उन्होंने वहां के शिल्प और कलाओं का विशद विवेचन किया और उनकी गौरव-गरिमा का आख्यान किया। इस कार्य में वे स्वयं मार्ग बनाने वाले और उस पर चलने वाले पहले पथिकृत थे। इस ग्रन्थ में मुद्रित अनेक रेखा-चित्र उनके स्वयं बनाये हुए थे। इसी कड़ी का उनका दूसरा ग्रन्थ 'द इण्डियन क्राफ्ट्स मैन' 1909 में लंदन से प्रकाशित हुआ।

लंदन में रहकर भारतीय कला का अध्ययन करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि इस कला की प्रसवस्थली भारत भूमि की प्रदक्षिणा और वहां की मूर्ति, स्थापत्य और चित्र-कला की त्रिवेणी में अवगाहन-निमज्जन किये बिना कलायोग की साधना पूरी नहीं होगी। यह पिपासा और जिज्ञासा उन्हें भारत ले आई। वे लगभग तीन सप्ताह कलकत्ता में ठाकुर-परिवार के अतिथि रहे और भारतीय पुनर्जागरण-आंदोलन के नेताओं के सम्पर्क में आए।

दूसरी बार 1910 में 'इण्डिया सोसायटी ऑफ ओरियंटल आर्ट' के निमंत्रण पर वे फिर भारत आए।

डॉ० कुमार स्वामी की हार्दिक इच्छा थी कि उन द्वारा संग्रहीत कलाकृतियां भारत में ही रहें और कोई संस्था उनके संरक्षण और संस्थापन का उत्तरदायित्व ले, वे सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाएं। पर दुर्भाग्य से इस ओर किसी संस्था ने अपना हाथ नहीं बढ़ाया। अंत में 'बोस्टन फाइन आर्ट संग्रहालय' के दूरदर्शी कलामर्मज्ञ श्री रौस ने इस संग्रह के संरक्षण के लिए भवन की व्यवस्था कर दी। डॉ० कुमार स्वामी को ही इस संग्रह का कीपर नियुक्त किया गया। बाद में इस संग्रह में और भी बढ़ोतरी होती गयी और आज भारतीय कला के प्रेमियों का तो वह तीर्थस्थल ही है। वे 1917 में बोस्टन गए और अन्त तक वहीं रहे। उन्होंने भारतीय कलाकृतियों की सूची पांच भागों में प्रकाशित की।

वे यहां नगर के बाहर एक कुटीर बनाकर उसमें रहने लगे और अध्ययन-मनन का क्रम जारी रखा। भारतीय ऋषियों जैसा उनका चेहरा-मोहरा था और वैसी ही जीवनचर्या। इन दिनों उन्होंने अपनी सारी शक्ति भारतीय कला के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करने में लगायी। उन्होंने केवल भारतीय

धार्मिक दार्शनिक साहित्य के अध्ययन तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद तथा जैन-बौद्ध शास्त्रों का भी गहरा मनन किया।

चिंतन-मनन की दिशा में गहरे पैठते हुए वे वेद-विद्या और उसमें निहित प्रतीकवाद पर विरमे। कला और साहित्य के प्रतीकों और रूढ़ियों की खोज के फलस्वरूप 'डांस ऑफ शिवा' तथा 'यक्ष' जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियों की उन्होंने रचना की। 'न्यू एप्रोच टु वेदाज' तथा 'फिलोसफिया पेरोन्निस' उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

उनकी पुस्तकों और लेखों की संख्या कुल मिलाकर साढ़े तीन सौ के लगभग है। इसके अतिरिक्त चालीस पुस्तकों की समीक्षा भी उन्होंने की है। 'इन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के चौदहवें संस्करण में कला से सम्बन्धित कोई आठ लेख भी उन्होंने लिखे थे। अमेरिका में प्रकाशित 'इन्सायक्लोपिडीया' में भी उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दू-धर्म के प्रति अपनी दृढ़ आस्था और श्रद्धा के कारण उन्होंने विधिवत हिन्दू-धर्म को अपना लिया था और उनके नाम में 'के' अक्षर जो केनेथ का लघु रूप था, हटा दिया था। वे सर्वात्मभावेन वैष्णव हिन्दू बन गए थे।

22 अगस्त, 1947 को उनकी 70वीं वर्षगांठ मनाई गई थी। इसके कुछ दिन बाद ही 9 सितम्बर 1947 को उनकी भौतिक काया का अवसान हो गया पर उनका यशः शरीर सदा-सदा के लिए अजर-अमर हो गया है। उनकी भस्मी बोस्टन से लाकर गंगा में प्रवाहित की गई थी।

□

वृक्ष-विज्ञानी डॉ० जगदीशचन्द्र वसु

'वृक्ष मध्यरात्रि को सो जाते हैं और आधुनिक लोगों की तरह सूर्योदय के बाद उठते हैं।'

'मादक पेय वृक्षों पर भी वैसा ही प्रभाव डालते हैं, जैसा अन्य प्राणियों पर और विष जितनी देर में किसी प्राणी को मारता है, उतनी ही देर में वृक्षों को भी।'

ये चौंकाने वाली खोजें सन् 1901 में वनस्पति-विज्ञानी डॉ० वसु ने जब वैज्ञानिक जगत के सामने रखीं तो हलचल मच गई।

जगदीशचन्द्र वसु का जन्म 30 नवम्बर, 1858 में ढाका जिले के (अब बंगला देश में) विक्रमपुर कसबे के पास राढ़ी खाल नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता भगवानचन्द्र वसु उस जमाने में डिप्टी कलक्टर थे और यह बड़ी प्रतिष्ठा का पद समझा जाता था।

जगदीशचन्द्र वसु की प्रारम्भिक शिक्षा गांव की पाठशाला में ही हुई थी। उनके पिता ने जान-बूझकर उन्हें किसी अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश नहीं दिलाया था। जगदीशचन्द्र वसु ने स्वयं लिखा है : "मेरे पिता ने मुझे बंगला पाठशाला में भेजा जबकि मेरे पिता के अधीन कर्मचारी अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूल में भेजते थे। इस पाठशाला में मुझे उन लोगों के लड़कों के साथ रहने का अवसर मिला, जो जमीन तोड़कर उस पर फसलें उगाते थे। वहां मुझे मछुआरों के लड़कों से नदियों में रहने

वाले भयंकर जीव-जन्तुओं की रोमांचकारी कहानियां सुनने को मिलीं, जिनसे मुझे सच्चे पौरुष का पहला पाठ मिला। बचपन में पुराने ढंग की पाठशाला में पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि मैंने अपनी भाषा सीखी, अपने ढंग से सोचना सीखा और सीखा अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का पहला पाठ। वहां मैंने अपने को दूसरों के बराबर समझना और झूठे बड़प्पन से दूर रहना सीखा।"

गांव की पाठशाला की शिक्षा समाप्त करके जगदीशचन्द्र वसु कलकत्ता चले गए और यहां से बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में डाक्टरी की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड गए किन्तु शवों की चीर-फाड़ करते समय, दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण डाक्टरी की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। फिर उन्होंने लन्दन विश्व-विद्यालय से बी०एस-सी० की उपाधि ली और भारत लौट आए।

जगदीशचन्द्र वसु की अस्थायी नियुक्ति प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में हो गई पर उन्हें बहुत कम वेतन दिया गया। वसु महोदय ने, दूसरे प्राध्यापकों के मुकाबले में उन्हें इतना कम वेतन दिया जाने के विरोध स्वरूप वेतन लेना अस्वीकार कर दिया। तीन वर्ष तक डा० वसु बिना वेतन लिए बड़ी लगन से छात्रों को विज्ञान पढ़ाते रहे। अन्त में विजय उनकी ही हुई। अधिकारियों को झुकना पड़ा और तीन साल का पूरा वेतन एक साथ मिल गया।

प्रेसीडेंसी कालेज की प्रयोगशाला में अच्छे उपकरणों और यंत्रों का अभाव था। डॉ० वसु के बार-बार जोर देने पर भी सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही थी। अन्त में उन्होंने सरकारी रवैये से निराश होकर 1893 ई० में अपनी निजी

प्रयोगशाला स्थापित करने का निश्चय किया। उनके पास पर्याप्त धनराशि तो नहीं थी परन्तु संकल्प की दृढ़ता के कारण सीमित साधनों से ही प्रयोगशाला प्रारम्भ हो गई।

वसु महोदय ने अपनी प्रयोगशाला के लिए कामचलाऊ उपकरण स्थानीय कारीगरों से ही बनवाने का निश्चय किया। उनका पहला यंत्र विद्युत-तरंगों की खोज के लिए था। उन्होंने विद्युत चुम्बकीय तरंगों के गुणों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। ये वे तरंगें थीं जिनसे रेडियो द्वारा ध्वनि प्रसारित की जाती है।

1895 ई० में एशियाटिक सोसायटी के जनरल में उनका पहला शोध-पत्र प्रकाशित हुआ। एशियाटिक सोसायटी में उनका भाषण भी हुआ किन्तु उपयुक्त यंत्रों के अभाव में अपनी बात समझाने में उन्हें काफी कठिनाई हुई। इसी वर्ष उन्होंने बेतार द्वारा बिजली के संकेतों को भेजने का प्रदर्शन, बंगाल के तत्कालीन गवर्नर की उपस्थिति में कलकत्ता के टाउन हाल में करके दिखाया। उन्होंने दूसरे कमरे में बिजली की घंटी बजाकर दिखाई, एक भारी बोझ को सरकाया और विस्फोट करके दिखाया। ये कार्य अदृश्य विद्युत तरंगों द्वारा किए गए थे। संसार में चुम्बकीय तरंगों द्वारा सन्देश भेजने और कार्य कर दिखाने का यह सर्वप्रथम प्रदर्शन था।

रायल सोसायटी को जब जगदीशचन्द्र वसु की खोजों का पता लगा तो सोसायटी के अधिकारियों ने उनकी खोजों का विवरण प्रकाशित करने और उनकी सहायता करने का वचन दिया। इसी वर्ष विद्युत के सम्बन्ध में उन्होंने अपने दो शोधपूर्ण लेख 'इलैक्ट्रीशियन' नामक पत्रिका में प्रकाशित किए। 1896 में उन्हें लन्दन विश्वविद्यालय ने डी०एस-सी० की उपाधि प्रदान की।

डॉ० जगदीशचन्द्र वसु के बेतार द्वारा सन्देश भेजने के प्रदर्शन के कुछ समय बाद इटली के वैज्ञानिक मारकोनी ने इस विधि में सफलता प्राप्त कर ली।

1896 में डॉ० वसु को बंगाल सरकार ने लन्दन भेजा। वहां उन्होंने अपने उपकरणों द्वारा अपनी खोजों का प्रदर्शन किया। इंग्लैंड के इलावा फ्रांस और जर्मनी में भी उन्होंने अपनी खोजें प्रदर्शित कीं।

1901 ई० में जब डॉ० वसु दोबारा इंग्लैंड गए और रायल सोसायटी में अपने उपकरणों का प्रदर्शन किया तो एक बड़े उपकरण-निर्माता ने डॉ० वसु से उपकरण के निर्माण का अधिकार प्राप्त करने के लिए अनुबन्ध करना चाहा पर डॉ० वसु ने अस्वीकार कर दिया।

बिजली की तरंगों का अध्ययन करते समय एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर वसु महोदय का ध्यान आकर्षित हुआ। बिजली की धारा के स्पर्श से प्राणियों को धक्का लगता है। वसु अपने परीक्षणों द्वारा इस परिणाम पर पहुंचे कि बिजली की धारा को छूने से यह प्रतिक्रिया केवल प्राणियों में ही नहीं, जड़ पदार्थों में भी होती है। इससे जड़ और चेतन की एकता पर उनका ध्यान गया। इस दिशा में और परीक्षण करने पर पता चला कि विद्युत तरंग को ग्रहण करने वाले द्रव्यों में कुछ समय तक बराबर काम करते रहने से थकान-सी आ जाती है। परिणामस्वरूप उन द्रव्यों की तरंग ग्रहण करने की शक्ति धीरे-धीरे कम होती जाती है। परन्तु यदि उन्हें कुछ देर सुस्ताने दिया जाय, उन पर काम न किया जाए तो उनकी शक्ति फिर लौट आती है। इन परीक्षणों से जड़-चेतन की एकता की धारणा और भी दृढ़ होती गई और डॉ० वसु इस परिणाम पर पहुंचे कि सभी पदार्थों में एक-सा ही जीवन प्रवाह विद्यमान

है। भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् के बीच समन्वय स्थापित करने का यह कार्य भारतीय मनीषियों की परम्परा का ही नए सिरे से और वैज्ञानिक पद्धति से अनुसरण था। यह सुनिश्चित हो गया था कि जड़ और चेतन के बीच कोई सुनिश्चित सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। जगन्नाथ की मूर्ति जड़ नहीं, चेतन ही है। जड़ं पश्यति नो यस्तु जगत्पश्यति चिन्मयम्॥ (तत्त्वदर्शी इस जड़ जगत् को मृण्य न देखकर चिन्मय ही देखते हैं)। यह तत्त्वदर्शी की दृष्टि है। डॉ० वसु ने लिखा है : "मैंने पहली बार अपने पूर्वज महर्षियों के उस सन्देश को किंचिनमात्र समझा जो उन्होंने तीन हजार वर्ष पूर्व गंगा के तट पर दिया था।"

अब डॉ० वसु ने अपनी शोध का क्षेत्र वनस्पति जगत् को चुना। 'पौधे बाहरी प्रभावों के प्रति क्या प्रतिक्रिया करते हैं' इसे उन्होंने अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया। उन्होंने अनुभव किया कि प्राणियों और पौधों के स्नायुतंत्र में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। छुई-मुई के पौधे में तो उन्हें मानव-शरीर जैसी ही व्यवस्था दिखाई दी। इस नई शोध की सफलता का आधार मुख्य रूप से वह यंत्र था जो सूक्ष्म गति, सूक्ष्म संवेदन को भी आलेख के रूप दिखा देता था तथा स्नायुओं की गति को भी बता देता था। डॉ० वसु ने इस यंत्र को 'रेजोनेंट रिकार्डर' नाम दिया था।

डा० वसु ने प्रयोगों द्वारा प्रमाणित किया कि प्राणियों की तरह ही पौधों में भी संवेदनों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां अपनी प्रारम्भिक स्थिति में विद्यमान हैं। डॉ० वसु की दूसरी विदेश यात्रा के समय फ्रांस में विज्ञान-कांग्रेस का सम्मेलन होने वाला था। इस अवसर पर वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रदर्शन का भी आयोजन था। विज्ञान-कांग्रेस के आयोजकों

न डा० वसु को भी निमंत्रित किया था। इस प्रदर्शनी में उन्होंने अपने उपकरण भी प्रदर्शनार्थ रखे। विज्ञान-कांग्रेस में उनका व्याख्यान भी हुआ। आश्चर्यजनक खोजों के कारण उन्हें 'पूर्व का जादूगर' कहा जाने लगा।

इन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द भी पेरिस पधारे हुए थे। धर्मेतिहास सभा में उनका व्याख्यान हुआ था। यहीं पर डॉ० वसु से स्वामी जी का परिचय हुआ। स्वामी जी ने डॉ० वसु के सम्बन्ध में लिखा था "·····अनेक विद्वानों के बीच जिस एक-मात्र युवा यशस्वी वीर ने हमारी मातृभूमि के गौरव की घोषणा की, वह वीर है विश्वविख्यात वैज्ञानिक डॉ० जगदीश-चन्द्र वसु।" उनकी वनस्पति जीवन सम्बन्धी खोजों को मान्यता देने के बारे में जब रायल सोसायटी ने स्वीकार नहीं किया तो डा० वसु ने उन्हें मुंहतोड़ उत्तर देते हुए कहा, "विज्ञान की प्रगति के बारे में यह कहना कि वह यहां तक हो और इसके आगे न हो, बड़ी बेतुकी बात है। यह तो अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। जहां तक मेरे परीक्षणों का सम्बन्ध है, मैं उनके विरुद्ध तब तक कोई भी बात मानने को तैयार नहीं हूं, जब तक वैज्ञानिक विधि से उनका खण्डन नहीं किया जाता।"

वैज्ञानिकों के इस पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक रवैये से डॉ० वसु का मन यद्यपि क्षुब्ध हुआ पर वे हताश नहीं हुए। सच तो यह है कि इस विरोध ने डॉ० वसु में नई शक्ति का संचार किया। डॉ० वसु ने गूंगे वनस्पति-जगत् को वाणी दी और उसके सुःख-दुख, हर्ष-विषाद, निद्रा-जागरण तथा अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया के संवेदनों को प्रत्यक्ष कर दिखाया। 'रेजोनेंट रिकार्डर' के बाद उनका दूसरा आश्चर्यजनक यंत्र 1914 में तैयार हुआ। यह 'आस्विलेटिंग रिकार्डर' था। इसके द्वारा बहुत ही छोटे पौधों के सूक्ष्म अवयवों में जीवन के स्पन्दन

का अंकन सभव हो गया।

1914 में डॉ० वसु अपने उपकरणों के साथ फिर विदेश-यात्रा पर गए। इस बार आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, रायल इंस्टीट्यूट और रायल सोसायटी में भी उनके व्याख्यान हुए। उपकरणों के द्वारा उन्होंने अपनी शोध के परिणाम प्रदर्शित कर दिखाए। राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) उन्हें वैज्ञानिक कार्यों की एक विशेष समिति का सदस्य मनो नीत किया। 1915 ई० में स्वदेश लौटने पर सर्वत्र उनका स्वागत और अभिनन्दन हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी०एस-सी० की उपाधि से सम्मानित किया।

1915 ई० में वे कॉलेज से सेवामुक्त हुए। 1916 ई० में बंगाल सरकार ने उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया और बाद में 'सर' की उपाधि दी। भारत सरकार पहले ही उन्हें सी०आइ० ई० की उपाधि से सम्मानित कर चुकी थी।

1917 ई० में उन्होंने 'वसु विज्ञान मन्दिर' की स्थापना की। इसी वर्ष क्रैस्कोग्राफ नामक यंत्र का आविष्कार किया। जिसकी सहायता से पौधों की बढ़वार की गति को नापा जा सकता था।

1919 ई० में जब प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हो गया तो डॉ० वसु फिर विदेश-यात्रा पर निकले। इस बार उनके नए यंत्र क्रैस्कोग्राफ की सब जगह प्रशंसा हुई।

सन् 1920 में रायल सोसायटी ने उन्हें अपना सदस्य बना लिया। विज्ञान-जगत् का यह सबसे बड़ा सम्मान था। कुछ समय बाद डॉ० वसु ने अपना चौथा यंत्र 'मैगनेटिक कैस्कोग्राफ' भी पूरा कर लिया। इसके द्वारा पौधों के भीतर के काष्ठ-रन्ध्रों में होने वाली क्रियाओं को जाना जा सकता था। पौधों के हृदय की धड़कन इस यंत्र द्वारा अंकित हो जाती थी।

1922 में डॉ० वसु फिर विदेश-यात्रा पर गए। इस बार वियना, जिनेवा और वापसी पर मिस्र गए। मिस्र के शाह ने अपने मंत्रिमण्डल सहित उनका स्वागत किया।

कवीन्द्र रवीन्द्र से उनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। डॉ० वसु ने अपनी बंगला रचना 'अव्यक्त' कवीन्द्र को समर्पित की थी। कवीन्द्र ने भी डॉ० वसु की प्रतिभा की प्रशंसा में कविता भी लिखी थी। कवीन्द्र रवीन्द्र की बंगला कविता के एक अंश का हिन्दी रूपान्तर :

तुमने वाणी दी अशब्द को, वन के मर्म-बसी हर
गहन वेदना सुनी विजन में बैठ, करुण वह क्रन्दन
जोकि निरन्तर निर्वाणी निवन का बनता स्पन्दन
मातृवक्ष में धरणी के, उठकर अंकुर-अंकुर में
शत-शत व्याकुल डालें, फैला पत्र-पत्र के डर में
बेचैनी भर मूल-मूल में जीवन द्वन्द्व निरत है
सहसा तुम पर खुला भेद, उसका अद्‌भुत लिपिवत है।

जार्ज वर्नार्ड शा ने अपनी सारी रचनाएं उन्हें भेंट करते हुए लिखा था :

'एक नई दुनिया का द्वार खोलने वाले को।'

महान् वैज्ञानिक प्रो० आइन्स्टीन ने उनकी प्रशस्ति में कहा था : "डॉ० वसु का एक-एक कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक के लिए विजय स्तम्भ स्थापित किया जाना चाहिए।"

1927 ई० में भारतीय विज्ञान-कांग्रेस के लाहौर में हुए अधिवेशन की अध्यक्षता डॉ० वसु ने की।

1 दिसम्बर 1928 में उनकी सत्तरहवीं वर्षगांठ समारोह-पूर्वक मनाई गई। देश के गण्य-मान्य विद्वान और वैज्ञानिक उसमें सम्मिलित हुए। संसार के कोने-कोने से बधाई सन्देश

आए। 'पूर्व का जादूगर', 'एशिया का गौरव', 'पूर्व की आध्यात्मिकता और पश्चिम की भौतिकता में समन्वय के साधक', 'जड़-चेतन में व्याप्त एक ही सत्ता के मंत्र का द्रष्टा आधुनिक ऋषि' 'गूंगे वनस्पति जगत् को वाणी देने वाला' आदि अनगिनत प्रशस्तियां की गईं।

इस अवसर पर उन्होंने सन्देश में एक बड़े ही महत्त्व की बात कही थी : 'विज्ञान को आत्मज्ञान का साधन बनाने से ही संसार की रक्षा हो सकती है।'

सन् 1937 के नवम्बर की 23 तारीख को उनासी वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया।

उनका जीवन प्रकाश पुंज था।

□

श्री रामकृष्ण परमहंस की जन्मभूमि

पूर्वांचल बंगभूमि की सन्तानों को पुण्यपयस्विनी गंगा अपनी अजस्र धाराओं का स्तन्यपान कराती है और अपना नाम-रूप त्यागकर महासागर में विलीन हो जाती है। यहाँ जल और थल एक दूसरे को स्नेहपूर्वक आलिंगनबद्ध करते हैं। यहाँ की मन्द समीर में बाउल सन्तों के भक्तिगीतों की स्वर लहरियाँ सर-सराती हैं। महाप्रभु चैतन्य के हरिकीर्तन के भावविह्वल बोल हृदयों को भावविभोर करते हैं। शाक्त और वैष्णव मिलकर शक्ति और शान्ति की साधना करते हैं। भक्त चण्डीदास, राम-प्रसाद और विद्यापति की पदावलि के मधुर रस से सिक्त यहाँ के नर-नारी बड़े भावुक सहृदय हैं।

तमालों की छाया को प्रतिबिम्बित करते हुए ताल, 'नेति-नेति' की श्रुति भगवती का संकेत करते हुए कदली-दल, एकमेव अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म की सत्ता के रूपक का आख्यान करता हुआ एक ही चन्द्रमा जलाशयों में शतशः-सहस्रशः प्रतिभा समान होता है।

महासागर में विलीन होते हुए नदी-नद, समस्त धर्मपथ उसी एक पूर्ण सत्ता की ओर ले जाते हैं, इसका तत्त्वबोध सहज ही करा देते हैं। तरंगाकुल सागर यह कहता-सा प्रतीत होता है कि समुद्र की तरंगें हैं, तरंगों का समुद्र नहीं है। यह भवसागर से पार उतरने की प्रेरणा भी देता है। यहाँ के मछुए भवसागर तुल्य महासागर में गहरे पैठकर मोक्षरूपी मोती को प्राप्त करने में बड़े सिद्ध-हस्त हैं। यहाँ के जन-मन में दुष्टों के लिए भयंकारी

और भक्तों के लिए वरदाभयकारी आद्या शक्ति का निवास है। यहाँ के नर-नारी महाकाली के प्रचण्ड रुद्ररूप में 'माँ' की ममता के दर्शन करते हैं। उसके अलौकिक सौन्दर्य-दर्शन के लिए वे सदा लालायित रहते हैं।

यहाँ के सदानीर सरोवरों के कर्दम से सुन्दर कमल उगते हैं और जन-जन के हृदय में भगवद् भक्तिरूपी अनुपम रूप-रस-गन्ध वाले कमल विकसित होते हैं। जगदात्मा सूर्य का प्रथम प्रकाश इसी पूर्वांचल में प्रकट होता है। मातृभूमि के इस आंचल ने मातृ-संस्कृति को यत्नपूर्वक सहेजा है।

सुजला, शस्यश्यामला इस बंगभूमि के हजारों गांवों की तरह ही एक गांव है, कामारपुकुर। भारत माता के धानी आंचल में कढ़े एक फूल जैसा। वृक्षों के झुरमुट से घिरे हुए घर, मीनाकुल ताल, जलपूरित धानों के खेत, चण्डीमण्डप और नाट्यशाला, सुन्दर श्यामल वर्ण नर-नारी।

शस्य श्यामल इस अंचल के विस्तृत मैदान में बांसों के झुरमुट, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त वटवृक्ष, संसाररूपी वृक्ष जैसे अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष और आतपतापित पन्थी को छाया देने में कृपण और दूरावलम्बी फलों वाले खजूर वृक्षों से आच्छादित ग्रामीणों द्वारा निर्मित मिट्टी के टापुओं जैसी पर्ण कुटियाँ, कीचड़ से ऊपर उठे कमलनालों और पुष्पों से भरे हालदार पुकुर, सरोवर, 'बूढ़ो शिव' (वृद्ध शिव) जैसे छोटे-छोटे देवालय, कुछ दूर स्थित 'मन्दारिण गढ' के भग्नावशेष, महाकाली और भैरव की प्रिय श्मशान भूमि, तृणसंकुल गोचर भूमि और टेढ़ी रेखा में प्रवाहित होने वाली नहर जैसी 'भूतो की पोखरी' तथा गाँव के बीचों-बीच बर्दवान से जगन्नाथ धाम को जाने वाला तीर्थ-यात्रियों से परिपूण राजमार्ग—यह है कामारपुकुर ग्राम जहां युस्मद्-अस्मद् रूप विश्व-प्रपंच को ब्रह्म का मायाविलास समझने वाले श्री रामकृष्ण ने अवतीर्ण होकर सर्वधर्म समभाव का प्रत्यक्ष किया। □

कांगड़ा में लोककथाओं का मौसम

कणकां बाहियां, कथां आइयां

गेहूँ की फसल बीज दी और कथाओं का आगमन हो गया। ठीक ही तो है। जिन कथा कहने वालों के मानस-पटल पर कथाएँ अवतरित होंगी, वे मानस-पटल जब तक इसके लिए प्रस्तुत नहीं होंगे, तब तक कथाओं का अवतरण कैसे हो सकता है! हाँ, यह बात कथाओं के लिए या यों कहिए कि गद्यात्मक साहित्य पर ही लागू होती है। पद्यात्मक पर नहीं, अर्थात् लोकगीतों पर नहीं। विमान के अवतरण के लिए हवाई-पट्टी चाहिए, हैलीकोप्टर तो खेती में भी उतर जाएगा। ठीक इसी तरह लोक गीतों के लिए खेतों में धान की रोपणी रोपते, निराई और कटाई करते व्यस्त मानस-पटलों पर उतरने में कोई असुविधा नहीं होती। पर लोककथा को अवकाश चाहिए। जहाँ लोकगीत श्रम के क्षणों में हमारा मनोरंजन करते हैं, वहाँ लोककथाएँ हमारे विश्राम के समय को मनोरंजक बनाती हैं। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है।

कांगड़ा घाटी में गेहूं के अंकुरों के साथ ही जाड़े के भी अंकुर फूट पड़ते हैं और गेहूँ के अंकुरों के साथ ही साथ वह भी बढ़ते हैं। जब दिन क्षीण और दिनमणि निस्तेज होने लगता है और पांच बजे ही सूर्य का गोला पश्चिम सागर में डूब जाता है। जब शीत भगाने में सहायक जानु, भानु, कृशानु में से 'भानु' स्वयं भाग जाता है और 'जानु, कृशानु' ही शेष रह जाते हैं तो

लोककथाएं निरभ्र नीलाकाश में निशाकर की किरणों में स्नान करके पार्वती-भूमि पर उतर आती है और बूढ़ों, बच्चों और जवानों से भरे घरों में प्रवेश करती हैं। उन्हें भरे-पूरे घर भाते हैं, जिनमें तीन-तीन चार-चार पीढ़ियाँ एक साथ निवास करती हैं। लम्बी रातें : जैसे प्रेमी युगल की बातें, समाप्त होने का नाम नहीं लेतीं। चाँदनी में स्वछन्द स्नान करती युवती रात पर कहीं दृष्टि न पड़ जाए, इसलिए धर्मभीरु लोग द्वार व खिड़कियाँ बन्द कर लेते हैं।

सायंकाले दिनान्ते 'जठरेण हुताशनम्' का अनुसरण करते हुए पार्वती सन्तान चूल्हे-अंगीठी के पास इस तरह इकट्ठे हो जाते हैं जैसे चुम्बक के चतुर्दिक लौहकण।

गृहिणी तवे से उतरती गर्म-गर्म मक्की की सुनहली करारी रोटियाँ परोसती जा रही है और छोटे-बड़े स्वाद को सराहते खाते नहीं अघाते। कोई बेदान्ती वृद्ध करारी रोटी चबाने में असमर्थ होने के कारण नर्म रोटी की माँग करता है। खाना खाते ही ठंड अधिक लगने लगती है। कहावत है : खाई सीत, न्हाई सीत, सरकारा जाई सीत। खाकर, नहाकर और सरकार में जाकर (भयजन्य कम्प) ठंड लगने लगती है। बड़े-बूढ़े चिलम भर कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। जलती लकड़ियाँ चटख रही हैं और किसी गीली लकड़ी का रस गर्मी पाकर झाग के बुलबुले बनाने लगता है। बांस की खोखली लकड़ी में से पीछे की ओर तेजी से धुंआ निकल रहा है और बच्चों के लिए यह सब मनोरंजन का साधन है। कभी लकड़ियाँ भड़क उठती हैं तो लपटों का नाच एकदम तीव्र हो जाता है। ज्यादा लकड़ियाँ झोंकने पर गृहस्वामिनी की झिड़की भी मिलती है। किसी जलती लकड़ी के भीतर लगी दीमक आँच पाकर बाहर भागती है तो नजर पड़ते ही उस लकड़ी को चूल्हे से निकाल कर बुझा दिया

जाता है ताकि व्यर्थ की जीव-हत्या न हो।

सब खा-पी चुके हैं। गृहिणी चौके को (चूल्हे को नहीं) समेट रही है। बच्चे उबासियाँ लेने लगे हैं। कथा सुनने-सुनाने का प्रस्ताव होता है और बच्चों की उबासियाँ भाग जाती हैं। वे सावधान मुद्रा में, चौकन्ने होकर बैठ जाते हैं। बिस्तर में लेटे-लेटे भी कथा कहने-सुनने का क्रम चलता है पर उसमें श्रोताओं पर नींद का आक्रमण अधिक होता है। कई बार कोई लम्बी कथा बीच में ही छोड़ देनी पड़ती है।

कई बार ऐसा भी होता है कि किसी को कथा सुनाने के लिए कहा जाता है तो वह मना करता है। फिर बार-बार आग्रह किया जाता है। कथा कहने वाला टरकाने के लिए कहना आरम्भ करता है :

'इक था राजा'। श्रोता 'हूँ' कह कर अगले अंश की प्रतीक्षा करने लगता है। कथा कहने वाला कहता है, 'तिसदी धी थी दलीपी। दिखा लोको मैं केडी कथा दीती।' इसका अर्थ है, एक राजा था, उसकी बेटी का नाम दलीपी था। देखो लोगो, मैंने कितनी बड़ी कथा सुनाई।

कई बार इसके बदले कुछ और तुकबंदियाँ भी कही जाती हैं। पिछले दिनों जब मैं लोककथाओं से सम्बन्धित एक अंग्रेजी पुस्तक पढ़ रहा था तो उसमें इसी तरह की बात पढ़कर मनुष्य मस्तिष्क के सर्वत्र एक समान सोचने का प्रमाण मिला।

"Snip, Snip, snout.
This talls told out"

जरा तुलना कीजिए :

'एक था राजा, एक थी रानी।
दोनों मर गए, खतम कहानी।।'

अधिकतर लोककथाओं में करुण रस होता है और 'अन्त-

भले का भला' के अनुसार सुखान्त होता है।

'इक था राजा' बस उसका नाम क्या था, उसका राज्य कहाँ था और वह कब हुआ था, यह न कहने की जरूरत, न जानने की। लोककथाओं के माध्यम से अबोध बाल मन भी अनायास उदात्त भावनाओं की ओर अभिमुख होने लगता है। लोककथा की सात बहनें एक तिल को बाँट कर खाती हैं और सतवन्ती रानी कच्चे घड़े से पानी भरती है। सौगन्ध खाने पर सिंह-बाघ भी विश्वास कर लेते हैं और अपने शिकार को कुछ समय के लिए छुट्टी दे देते हैं।

आप सोए नहीं हैं और कथा में रुचि ले रहे हैं, इसके प्रमाण स्वरूप 'हणूणा' अवश्य देते रहना चाहिए। कथा कहने वाले के प्रत्येक विराम पर 'हूँ' का उच्चारण 'हणूणा' है।

कथा को बीच में—अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए नहीं तो मामा रास्ता भूल जाता है।

कथा समाप्त होती है। कथा कहने वाला अन्त में कहता है

सै तित्थू, असां इत्थू' (वे वहाँ और हम यहाँ) यह कथा समाप्ति की सूचना है।

पहेलियाँ भी इन्हीं दिनों बूझी-बुझाई जाती हैं। पहले बुझाने वाला पहेली का कुछ अता-पता बताता है जिससे बूझने वाल कुछ अनुमान लगा सके। यदि कोई पहेली को बूझ न सके तो पूछने वाले के आस-पास का कोई ग्राम दान में दे दिया जाता है। जिसके प्रतिदान में वह पहेली का उत्तर बता देता है। ग्राम दान के लिए यह कह देना मात्र पर्याप्त है कि मैंने अमुक ग्राम दिया। सम्भवतः यह सामन्ती युग के अवशेष हैं।

गेहूँ में बालें आ गईं। मौसम में खुलावट आ गई। किसान व्यस्त हो जाएंगे। लोककथाएँ अब अपने देश लौट जायेंगी।

कणकां निसरियां, कथां बिसरियां।

(गेहूं में बालें निकल आईं और कथायें भूल गईं।)

कांगड़ा जन-पद लोक-साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र है। परन्तु इसके संकलन व संग्रह के लिए कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं हो रहा है। छुट-पुट प्रयास हो रहे हैं, होते भी रहेंगे पर वे आवश्यक विविध-विधानों का पालन न करने के कारण व्यवस्थित अध्ययन के लिए आधार नहीं बनते।

□

कांगड़ा जनपद की लोक-संस्कृति

राजनैतिक मानचित्र पर कांगड़ा की सिकुड़ती सीमाओं की बात सोचकर मन मसोसने की कतई जरूरत नहीं है, विश्व मानस में कांगड़ा की महिमा का निरन्तर विस्तार हो रहा है, होता रहेगा। इसका अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। वर्तमान आशाजनक है और भविष्य उज्ज्वल। इस जनपद के तीन उपादान—भूमि, जन और संस्कृति अपनी सुषमा, शालीनता और सर्वमंगल भावना के कारण स्पृहणीय हैं।

यहाँ की भूमि स्थूल दृष्टि वालों के लिए भले ही मृण्मय हो, जो पारदर्शी है, उनके लिए तो चिन्मय ही है। इसी अर्थ में हिमालय देवतात्मा है। उमा जब महेश्वर का पति रूप में वरण करने के लिए तप कर रही थीं तब उनकी परीक्षा लेने के लिए स्वयं महादेव पधारे थे। उन्होंने उमा से पूछा था कि वह कौन-सा अभाव है जिसकी पूर्ति के लिए तुम यह कठिन तप कर रही हो? यदि तुम देवलोक की प्राप्ति के लिए यह सब कर रही हो तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे पिता का प्रदेश देवभूमि ही है। देवभूमि यह आदि काल से है। आज भी यह घाटी 'देवताओं की घाटी' के नाम से जानी जाती है। यहाँ भवानी शंकर अपने समस्त गणों—भूत-पिशाच, यक्ष-गन्धर्व-किन्नर, आदि के साथ विराजते हैं। हमारी श्रद्धा और विश्वासरूपी यह युगल 'कहियत भिन्न न भिन्न' है। वे अज्ञ हैं जो हमारे विश्वास को 'अन्ध' बताते हैं। वह अन्ध नहीं, त्रिनेत्र है, ज्ञान

नेत्र से युक्त। दो नेत्र प्रायः विवधि दृष्टि दोषों के कारण यथार्थ को नहीं देख पाते। किन्तु यह ज्ञाननेत्र न केवल अभौतिक और अतिसूक्ष्म को देखने की सामर्थ्य रखता है, जो अशुभ है, अभद्र है, उसे अग्निधर्मा होने के कारण भस्मसात भी कर देता है। यहाँ कामदहन का प्रसंग स्मरण कीजिए। यहाँ एक और ध्यातव्य तथ्य की ओर आप सुधी जनों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। प्रपंच में व्यवहार के लिए दोनों नेत्रों का खुला रहना आवश्यक है। पर जब तक आप इन्हें बन्द नहीं कर लेते, विश्रान्ति और शान्ति नहीं पा सकते। नेत्रों का बन्द कर लेना अन्धत्व नहीं है।

यह भूभाग ऋषिभूमि है। ऋषियों ने यहाँ गिरिगुहाओं में और नदियों के संगमस्थलों पर[1] ऋतम्भरा प्रज्ञा को उपलब्ध किया था। वे मंत्रद्रष्टा महर्षि यहाँ की हरितवसना, शान्त प्रकृति की गोद में, अमृतस्यन्दी निर्झरों का प्रसन्न पानी पीकर, अन्तस के सहस्रदल कमल से झरने वाले अमृत का पान करके परम तृप्त हुए थे।

यहाँ की प्रकृति में वह प्रच्छन्न प्रेरणा विद्यमान है, जो मानव को विकृति से विमुख करके संस्कृति की ओर उन्मुख करती है, मानव प्रकृति के पाशव अंश को निःसत्व करके देवी संपद् को सत्वशाली बनाती है।

हमारी संस्कृति का विकास अरण्यों : तपोवनों में हुआ है। इसीलिए यह ऋषिभूमि है। यहाँ के पाँचों भूत : पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश, संदूषण रहित, अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान हैं। यहाँ की प्रकृति मधुछन्दा है। जिन मंत्रद्रष्टा महर्षि गौतम ने 'मधुवाता ऋतायते, मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः

१. उपह्वरे गिरीणां, संगमे च नदीनाम्। धियो विप्रा अजायत॥

सन्त्वोषधीः। मधु नक्त मुतोषसो मधु मत्यार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिमधु मां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। ॐ मधु। मधु। मधु। तृप्यध्वम्। तृप्यध्वम्। तृप्यध्वम् ॥' इस मंत्र का साक्षात्कार किया था, वे यहीं कहीं गिरिदरी में तपस्या निरत रहे होंगे। नहीं तो ऐसी प्रसन्न-वाणी का प्रस्फुटन कैसे होता! कालिदास के 'कूल्याम्भोभीः' पवन-चलितैः शाखिनो धौत-मूलाः ॥ को आज भी पालमपुर में देखा जा सकता है।

यहाँ की पृथ्वी में रोग-निवारण में सक्षम औषधियाँ और दीप्तिमती वनस्पतियाँ उगती हैं। यहाँ की नदियों, खड्डों और झरनों में स्वच्छ, शीतल हिमजल प्रवाहित होता है।

यहाँ भगवान् भास्कर भी अपने तेज का संवरण करके चक्रमण करते हैं। यहाँ का मन्दसमीर ऐसा दुर्विनीत कभी नहीं होता कि कुलवधुओं के अंचल को हटा दे।

यहाँ आकाश के देवता 'काले-काले नः पर्जन्यः अभिवर्षतु' की व्यवस्था करते हैं।

यहाँ की हरितवसना धरती, के आंचल में विविधवर्णी पुष्प-छटा बिखरी रहती है। मही माता ऋतुचक्र के अनुसार अपने परिधान को बदलती रहती है।

इस शान्त सौन्दर्य को देखकर आँखें जुड़ा जाती हैं। हृदय शीतल हो जाता है। विधाता की इस सृष्टि को जिसने नहीं देखा, वह तो लोचनैर्वंचितोऽसि।

महाहिमवन्त की उपरिगिरि शृंखला में स्थित धौलाधार की छत्र-छाया में और शिवालक की तराई में यह जनपद अवस्थित है। वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं की विविधता में संसार का कोई भी जनपद शिवालक और उसकी दूनों का मुकाबला नहीं कर सकता। शुभ्र रजत किरीट जैसी धौलाधार

हैं। देवाधिदेव शंकर का घनीभूत अट्टहास ही तो यह धवल हिम-राशि है।

मानव जाति की उत्पत्ति और विकास के लिए जिस तरह की भौतिक परिस्थितियाँ वांछनीय थीं, वे इसी जनपद में सुलभ थीं। आदि मानव के कितने ही उपकरण यहाँ उपलब्ध हो चुके हैं।

वेदों में यहाँ की लोकधातृ नदियों का स्पष्ट उल्लेख है। यहाँ व्यास, वसिष्ठ, माण्डव्य, लोमश प्रभृति अनेक ऋषियों के तपोधाम हैं। वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापक महाराज मनु का सम्बन्ध भी इस देवभूमि से है। पुराणकाल का जालन्धर पीठ यही तो है। यहाँ के शक्तिपीठ और सिद्धपीठ आज भी अपनी महिमा से निखिल भारत के श्रद्धा केन्द्र हैं।

यहां के निर्मल मन जन छल-कपट से दूर हैं। उनके हृदयों की सरलता, चेहरों की सौम्यता में साकार हुई है। वे परिश्रमी, उदारमना और सन्तोषी स्वभाव के हैं। धौलाधार ने इन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाया है। विषम पार्वती धरती ने इन्हें विषमताओं के पार जाने की सामर्थ्य दी है। बादलों को छूते एक पादासान में स्थिर खड़े देवदार वृक्षों से इन्होंने स्थित-प्रज्ञता का पाठ सीखा है। कल-कल, छल-छल बहती वारिधाराएं इनके मालिन्य को धो डालती हैं।

यहाँ लोक और वेद एक-दूसरे के गले में बाँहें डाले एक मेक-से लगते हैं। यहाँ नागर और ग्राम्य में भी वैसा भेद नहीं है। यहाँ के अपौरुषेय वाङ्मय (स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले संस्कार गीतों में) कर्मकाण्ड के मंत्रों का भाव देखा जा सकता है। यहाँ के निरक्षर जन भी बहुश्रुत हैं। यहाँ वर्गभेद और जातिभेद अपनी घिनौनी कुरूपता के साथ कभी भी वर्तमान नहीं रहे।

मानव जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति करने वाले समस्त क्रियाकलाप संस्कृति के उपादान हैं, जो भी प्रयत्न मानव जीवन को पूर्वापेक्षया अधिक संस्कारित करता है, वह संस्कृति है। हमारे यहाँ जो षोड्श संस्कारों का विधान है, वह सुसंस्कृत जीवन की उपलब्धि के लिए ही है। इस तरह संस्कृति एक सतत् प्रयत्नशील प्रक्रिया की संज्ञा है।

यद्यपि इस रूप में संस्कृति सार्वभौम मानवधर्म के रूप में सामने आती है तथापि परिस्थितियाँ संस्कृति की रूप-रेखाओं को अवश्य प्रभावित करती हैं। संस्कृति और सभ्यता ये दो शब्द बहुधा एक-दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त कर दिये जाते हैं पर इनमें खासा अन्तर है। इस अन्तर को समझने के लिए इन्हें मन और शरीर से उपमित किया जा सकता है। अन्तःकरण चतुष्टय—मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के परिष्कार को संस्कृति और शरीर की बाहरी साज-सज्जा का सभ्यता कह सकते हैं। ये दोनों एक-दूसरी की पूरक हैं। प्राकृतिक परिस्थितियाँ मन की अन्तः-शक्तियों के विकास में सहायक होती हैं और विकसित अन्तः-करण भौतिक समृद्धि के अर्जन में सहायक होता है।

दुर्गम होने के कारण यह जनपद बाहरी संपर्क से बहुत कुछ असंपृक्त रहा है। यही कारण है कि इसमें वैदिक संस्कृति की छाप अभी भी देखी जा सकती है।

'कांगड़ा' नाम सुनते ही मेरे मानस-पटल पर धौलाधार के शुभ्र शिखरों की तरह अनेक महिमामंडित, गौरव-गरिमा से युक्त कीर्तिस्तम्भ उभर आते हैं। इस जनपद की भौगोलिक श्री-सुषमा, इतिहास और परम्परा शिल्प और कलाएँ, सभी कुछ आश्चर्यजनक हैं।

वीरप्रसू और वीरमाता इस धरती के सूरमाओं को हम महाभारत के युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़ते देखते हैं। ३००

ई० पू० सिकन्दर महान की विजय-यात्रा का वृत्तान्त लिखने वालों ने यहाँ के रजवाड़ों को 'दुर्भेद्य' कहा है। यहाँ हजारों वर्षों से निरन्तर 'कटोच्च' उपाह्व चन्द्रवंशी राजाओं का राज्य रहा है। कांगड़ा के एक अंग्रेज जिलाधीश ने कांगड़ा गजटियर में लिखा है कि जब हम म्लेच्छों का जीवन बिता रहे थे तब यहाँ एक सुव्यवस्थित राजसत्ता विद्यमान थी। चीनी यात्री ह्यूनसांग ने कुल्लू के विशाल पहाड़ी राज्य का उल्लेख किया है। कांगड़ा के किले का सम्बन्ध महाभारत काल के सुशर्मचन्द्र से माना जाता है। आठवीं शताब्दी में निर्मित वैद्यनाथ का मन्दिर अपना सानी नहीं रखता।

यथा नाम तथा गुणा: 'कथा सरित सागर' की रचना कश्मीर के पंडित सोमदेव ने यहीं (त्रिगर्त) की पुत्री सूर्यमती, जो कम्मीर के राजा अनन्त की रानी थी, के मनोविनोद के लिए की गई थी। यह ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की घटना है।

ग्यारहवीं शताब्दी में गजनी के महमूद ने कांगड़ा कोट पर आक्रमण किया था। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता ने लूटकर ले जाई गई सम्पत्ति का जो ब्यौरा दिया है, उसे पढ़कर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। इसमें नौ सौ मन सोना, दो हजार मन चाँदी, बीस मन मणि-मुक्ता और लाखों अशरफियों का उल्लेख है। यह इसी वसुन्धरा की सम्पत्ति थी। मुस्लिम आक्रान्ताओं, पंजाब के सिक्खों और गोरखों के आक्रमणों का जिस वीरता से यहाँ कटोचों और पठाणियों ने सामना किया, वह इतिहास के साथ-साथ यहाँ के लोकगीतों में भी मुखरित है। नूरपुर की रानी नीलदेवी ने जिस प्रकार कटार से अपने अपमान का बदला लिया था, वह यहाँ के इतिहास का सुनहरा पन्ना है। गुलेर का नया राज्य बसाने के पीछे जो कहानी है, वह भी चरित्र का नया मानदण्ड स्थापित करती है।

आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी के जन्म से सैकड़ों वर्ष पूर्व कांगड़ा में 'नाक' की प्लास्टिक सर्जरी होती थी। भारत-भक्त मैक्समूलर ने लिखा है कि विक्टोरिया के राज्यकाल में यूरोप के डाक्टरों ने यह विद्या यहाँ के लोगों से सीखी थी।

शारदा पीठ काश्मीर के महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त जिन्होंने काश्मीर शैवसिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया, तंत्रालोक जैसे तंत्रग्रन्थ की रचना की और ध्वन्यालोक जैसा ग्रन्थ साहित्य को दिया, इसी जनपद के स्वनामधन्य श्री शंभुनाथ जी के शिष्य थे। आयुर्वेद, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, मंत्र, तंत्र और यंत्र-विद्या के पंडितों का यहाँ कभी अभाव नहीं रहा।

राजा संसारचन्द के राज्यकाल में यहाँ के चितेरों की रेखाओं और रंगों ने, नारी के नख-शिख चित्रण में, धीरोदात्त और ललित नायक के चित्रण, प्रकृति और पशु-पक्षियों के अंकन में ऐसा कुछ कर दिखाया जो चित्रकला का मानदण्ड बन गया। तब से अब तक कोई भी देश उन रेखाओं की लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सका। उन चितेरों ने अमूर्त को भी मूर्तिमन्त कर दिखाया। अभिप्राय रागमालाओं से है।

यहाँ की सन्नारियों ने रुमालों पर रासपंचाध्यायी में वर्णित महारास के दोरुखे चित्र काढ़कर 'एक और कीर्तिस्तम्भ' स्थापित किया। पर्वों और अनुष्ठानों के अवसर पर दीवारों पर चित्र लिखना और मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना भी वे जानती हैं। यहाँ कला का सृजन वैभव-विलास की पृष्ठभूमि में नहीं, मानव की सृजनशीलता से सम्पन्न हुआ। कला राजप्रासादों की दासी नहीं, घर-घर की देवी बनी। मिट्टी के भाण्डों पर कला, वस्त्रों पर कलात्मक छपाई और कढ़ाई, पकवानों को भी सांचों में दबा कर कलात्मक बनाया गया। यह कला-प्रेम लोक मानस में इतना गहरा पैठ गया कि पत्तलों में तीलियाँ लगाने में भी कला-

त्मकता लाई गई।

प्रतिदिन आंगन के मध्य, द्वारों और बैठक में अल्पना करके पत्र-पुष्प, अक्षत-कुंकुम, द्वार पूजन, ठाकुर और तुलसी की पूजा, वर्षभर व्रतों और अनुष्ठानों का आयोजन इस संस्कृति में देवत्व की प्रतिष्ठा के सूचक हैं।

ऋतुचक्र के स्वागत में रली के गीत, ढोलरू, ग्रीष्म के स्वागत में बैसाखी का त्यौहार, घड़ों, पंखों और शरबत का दान, पक्षियों के लिए भी प्याऊ, वर्षा के स्वागत में सैर का त्यौहार, वर्षा में पक्षियों को धान्य का चुग्गा डालना, जीवमात्र के प्रति अपने कर्त्तव्य-निर्वाह का सूचक हैं। शरद में मकर संक्रान्ति आदि पर्व प्रकृति के साथ मानव की समरसत्ता के सूचक हैं।

दूरगामी मुख्यमार्गों पर फल और छाया वाले वृक्षों की कतारें, एकत्र पाँच रुख लगाकर उनका चबूतरा बनाकर प्रतिष्ठा करना, पत्थर लगाकर मार्गों को पक्का बनाना, यथास्थान प्याऊ लगाना यहाँ की प्रतिष्ठित परम्पराएँ हैं। आम्रवृक्ष लगाकर जब वह फल देने लगे तो उसे दान कर देना यहाँ पुण्यप्रद कार्य समझा जाता था। उस परिवार के लोग फिर कभी दान किए वृक्ष के फल नहीं खाते थे। जैसे गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन' जीवन में प्रत्यक्ष कर रहे हों। यह ठीक है कि समय के प्रभाव से बहुत-सी उत्तम परम्पराएँ अब नामशेष होती जा रही हैं।

इस भूभाग के निवासियों ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा, कर्म के क्षेत्र में जो रचा, ये दोनों संस्कृति रूपी मानस-हंस के दो पक्ष हैं।

कांगड़ा की लोक संस्कृति के अध्ययन की दिशा में अभी तक कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं हुआ है। यदि इसका विधिवत अध्ययन मनन, और विश्लेषण किया जाए तो इतिहास की

अनेक विलुप्त कड़ियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। यहां के लोकगीत, कथाएँ और गाथाएँ, लोकोक्तियाँ, मुहावरे और पहेलियाँ, जाति विशेष द्वारा गाए जाने वाले गीत, फसलों, वर्षा, पशुओं और जीव-जन्तुओं से सम्बद्ध सामूहिक लोक द्वारा अर्जित ज्ञान, अभिचार—मंत्र-तंत्र, टोना-टोटका आदि सभी का अध्ययन अपेक्षित है। ऐसी-ऐसी लोकोक्तियाँ इसमें हैं जिनकी अर्थ-समता करने वाली कोई लोकोक्ति हिन्दी में नहीं मिलेगी। एक उदाहरण प्रस्तुत है : मंगणा भी चलणा, पथ भी अपणा। अब क्योंकि 'पथ' हमारे यहाँ से लुप्त हो गया है, इसलिए यह लोकोक्ति भी पराई हो जाएगी।

यहाँ की बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन भी अपेक्षित है। तत्सम और तद्भव शब्दों की प्रचुरता, कर्मकाण्ड, ज्योतिष और आयुर्वेद में श्रद्धा और निष्ठा के साथ जनमानस में उनका व्यावहारिक ज्ञान, इन विज्ञानों की किसी समय की लोकप्रियता का प्रमाण है। मैं अपने बचपन का स्मरण करता हूँ तो देखता हूँ कि मेरी निरक्षर दादी जी को ताराओं का इतना ज्ञान था कि वे रात के किसी भी समय उनकी स्थिति देखकर समय बता सकती थीं। सोते समय वे मंत्र पढ़ती थीं और तुलसीपूजन के मंत्र भी जानती थीं। सारे व्रतोत्सवों की कथाएँ, संस्कारों में किस समय कौन-सा गीत गाया जाएगा, यह सब जानने वाली चतुर महिलाएँ अब कम दिखती हैं। लोकाचारों को सम्पन्न करवाते समय पुरोहित यदि जरा इधर-उधर कर दे तो वे टोक देंगी।

नदी पूजा, नागपूजा, वृक्षपूजा, गो-वृषभपूजा, जीवन के सहयोगी सभी पूज्य, सभी का आभार स्वीकार—ऐसी समन्वययुक्त जीवन-दृष्टि का विकास जिन्होंने किया वे निश्चय ही साधारण मानव नहीं थे। वे थे सूक्ष्मदर्शी, मृण्मय में छिपे चिन्मय को पह-

चानन वाले प्रकृति माता के साथ समरस महोष। पश्चिम की यह मान्यता कि धर्म का जन्म भय की भावना से हुआ था, भारतीय मानस को कतई स्वीकार्य नहीं है।

'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' का उद्घोष करने वाले ऋषि मही माता को विष्णुपत्नी के रूप में ही देखते थे। जगत् जगत्-नाथ की व्यक्त मूर्ति है, ऐसी तात्विक दृष्टि उनकी थी।

इस लम्बी यात्रा में संस्कृति के साथ-साथ कुछ विकृतियाँ भी मानव मन को घेर लेती हैं। यह देवासुर संग्राम बाहर-भीतर सदा होता रहता है।

पिछला समय हमारा विस्मृति काल रहा है। हम सारे ज्ञान-विज्ञान को भूल गए। प्रकाश पर तमस् की विजय हो गई। किन्तु वह मोहरात्रि समाप्त हो चुकी। आइए, हम सब मिल-कर अरुणोदय का स्वागत करें।

अभी तक हम 'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे' (जिसकी गोद में हमारे पूर्वजों ने अनेक पराक्रम के कार्य किए) उनका पुण्य स्मरण, यशोगान कर रहे थे, पूर्वजों की यह धरोहर हमारा पाथेय बने और 'कृतानि पुत्रैरकृतानि पूवजैः, (पूर्वजो द्वारा छट गए कार्यों को पुत्रों ने पूरा किया।) की उक्ति को चरितार्थ करते हुए, हम उनकी योग्य सन्तान कहलाने के योग्य बनें—ऐसी आशा-आकांक्षा करता हूँ।

□

पालमपुर घाटी

पालमपुर घाटी का स्थानीय नाम 'पलम' है। पलम के वासी अपने को धारों के वासियों से ऊंचा मानते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सचमुच यह घाटी ऐसी ही है, जिस पर गर्व किया जा सकता है।

धौलाधार की गोद में बसी पालमपुर घाटी के सुन्दर चीड़ और देवदार के जंगल चुस्त-दुरुस्त सीधे खड़े ऐसे लगते हैं जैसे सजी-धजी फौजें खड़ी हों। चीड़ की वनखण्डियों में से गुजरती शान्त छायादार सड़कें, बौने किन्तु अनुशासनबद्ध खड़े चाय के पौधे, उनके ऊपर बिखरे-बिखरे, छातों जैसे ओई के वृक्ष, पानी से भरे धान के हरे-भरे खेत, घर के आंगन या पिछवाड़े में कलकल बहती कूलें, वृक्षों के झुरमुटों के पीछे से चमकती स्लेट की ढालदार छतें सभी कुछ नयनाभिराम है। यह घाटी जगन्माता वज्रेश्वरी से शुरू होकर, उधर जगत्पिता बैजनाथ तक चली जाती है।

कालिदास के 'शाकुन्तलम्' में कण्व ऋषि के आश्रम का वर्णन पढ़ता हूँ तो लगता है, हो न हो, वह कहीं इसी घाटी में रहा होगा।

'कूल्याम्भोमि पवन-चलितै शाखिनो धौतमूला:' का दृश्य यहाँ आसानी से देखा जा सकता है। इस शान्त सौन्दर्य को देखकर आँखें जुड़ा जाती हैं। नयन ही नहीं, हृदय भी शीतल हो जाता है। विधाता की इस सृष्टि को जिसने नहीं

देखा, वह तो 'लोचनैर्वंचितोसि'।

सीधे स्थिर तपस्वियों जैसे खड़े, बादलों को छूते देवदार वृक्षों के अन्तराल में से धौलाधार की रुपहली छटा से आँखों को चौंध लगती है। कर्पूर गौर देवाधिदेव शंकर का घनीभूत अट्टाहस ही तो यह धवल हिमराशि है।

धौलाधार की निचली ढालों पर बसे गद्दी भी भस्माङ्गराग वाले शिव और पुष्पराग के राग से रंजित शिवा से अद्भुत साम्य रखते हैं। वे गौरे-चिट्टे, उनका पहनावा श्वेत, उनकी वधुएं गौरा, उनका पशुधन—भेड़-बकरियाँ—सभी कुछ श्वेत-धवल। शिव-शिवा का कपट वेश भी तो गद्दी-गद्दण का ही है। यहाँ वे इसी वेश में राह चलतों को मिल जाते हैं।

नीचे घाटी में बसे निर्मल मन जन छल-कपट से दूर हैं। वे परिश्रमी, उदार-मना और संतोषी स्वभाव के हैं। उनके हृदय की सरलता, उनके चेहरों की सौम्यता में साकार हुई है। धौलाधार ने इन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाया है। विषम पार्वती धरती ने इन्हें विषमताओं के पार जाने की सामर्थ्य दी है। ऊँचे स्थिर देवदार वृक्षों से इन्होंने धैर्य की शिक्षा ली है। कलकल-छल-छल बहती कूलें इनके मालिन्य को धो डालती हैं।

तरुण सरसों का साग, नवौदन, शाली अन्न की साररूप पिच्छ और दही-छाछ यहाँ सुलभ है। यहाँ का चावल पहले खेतों को और फिर पाकशाला को मधुर गन्ध से भर देता है। यह स्वाद में मधुर और हिम जैसा धवल होता है। यहाँ त्रयताप में से व्याधि नामक ताप का शमन करने वाली औषधियाँ और दीप्तमती वनस्पतियाँ उगती हैं। और तो और, यहाँ की गायें भी बनपशा चरती हैं।

यहां मन्द-मन्द पवन बहता है। वह ऐसा दुर्विनीत कभी नहीं होता कि कुलवधुवों के अंचल को हटा दे। यहां के शत-

धार झरने अमृतस्यन्दी हैं। यहाँ की यामिनियां मधुमती और दिन मधुमय होते हैं। यहां के रजकण भी मधुधर्मा है। यहाँ आकाश के देवता मंगलमय वरदानों की वर्षा करते हैं। भगवान् भास्कर भी यहाँ अपने ताप का संवरण कर लेते हैं। यहाँ की प्रकृति मधुछन्दा है। जिन मंत्रदृष्टा महर्षि गौतम ने 'मधुवाता ऋतायते' ऋचाओं का साक्षात्कार किया था, वे यहीं-कहीं गिरिदरि में तपस्या-निरत रहे होंगे। नहीं तो 'ॐ मधु ! मधु !! मधु !!! तृप्यध्वम् ! तृप्यध्वम् !! तृप्यध्वम् !!!' ऐसी प्रसन्न वाणी के प्रस्फुटन की भूमिका कैसे बनती।

यहाँ की प्रकृति संस्कृति की ओर उन्मुख है। संस्कृति वह जो हमें ऋषि-परम्परा से मिली है। यहाँ लोक और वेद एक दूसरे के गले में बाँहें डाले—एकमेक-से लगते हैं। कठिन है उनको विलगाना। यहाँ के लोकगीतों में शास्त्र की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। यहाँ द्विजाति के घरों में तुलसी का चबूतरा, देवताओं की प्रतिष्ठा और विविध व्रतोत्सवों का अनुष्ठान सम्पन्न होता रहता है। लिपे-पुते स्वास्थ्यप्रद घर-आंगन, शील-संकोच वाले स्त्री-पुरुष, सादी वेश-भूषा, प्रायः वर्गविहीन समाज यहाँ की विशेषता है।

यहाँ वसन्त के आगमन की सूचना देते हैं, आड़ू, अलूचे और कैथ तथा 'वसन्त' के वासन्ती फूल। गर्मियों में पलाश और अमलतास अपनी रक्त-पीत छटा बिखेरकर ग्रीष्म ऋतु का स्वागत करते हैं। सेमल भी इनका साथ देता है।

कचनार और केवड़ा, मधुभरे बसूटी के सफेद फूल, कांटेदार गरना झाड़ी के लौंग जैसे छोटे फूलों की गंध की मादकता राह चलतों को रोक देती है। यहां जंगली सफेद गुलाब की झाड़ियों की बाड़े आप देखेंगे।

यहाँ की महिलाएँ रूमालों पर रासपंचाध्यायी के दोरुखे

अनुष्ठानों का अंग हैं। इन्हें महिलाएं बनाती हैं। प्रतिदिन आंगन-द्वारों और बैठक में अल्पना करके पत्र-पुष्प-अक्षतों से पूजा होती है। दीपावली के अवसर पर काले रंग के मण्डपों में जो श्वेत-रंगीन अल्पना की जाती है, वह अंधकार पर प्रकाश की विजय की प्रतीक होती है। लोक और वेद का यह संगम स्थल है। परम्परा और आस्था यहां के जन-जीवन को गति-मति प्रदान करने वाली शक्तियाँ हैं। यहाँ मिट्टी के अत्यन्त कलात्मक बर्तन बनते हैं। बांस के शिल्पी बांस की आटा छानने की छलनियां बनाते हैं। यहाँ भोजों में जिन पत्तलों का उपयोग होता है, उन पर भी कारीगरी देखी जा सकती है। यहाँ के ग्रामीण देसी छातों में पत्तों की जगह भोजपत्र लगाते हैं।

रमणीक पालमपुर घाटी हर किसी सौन्दर्य-प्रेमी को रमा लेती है, अपने सौन्दर्य से रिझा लेती है। उसमें समा जाती है और उसे अपने बीच समा लेती है स्मृति-धन बनकर।

□

हिमाचल[1]

हिमाचल पहाड़ी प्रदेश है। इसमें बारह महीने बर्फ से ढके रहने वाले पहाड़ हैं। ऐसे पहाड़ों पर कोई नहीं रहता। उनसे नीचे के पहाड़ों पर सर्दियों में बर्फ पड़ती है और पिघल जाती है। कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहाँ बर्फ पड़ती ही नहीं।

बर्फ पड़ते देखना, बड़ा मनोरंजक होता है। रुई के फाहे जैसे धीरे-धीरे गिरते रहते हैं और सड़कें, घरों की छतें, धरती और वृक्षों की शाखाएँ बर्फ की सफेद चादर से ढक जाती हैं। यह दृश्य अद्‌भुत होता है। मैदानों से कितने ही लोग बर्फ गिरती देखने पहाड़ों पर जाते हैं।

जब बर्फ गिर रही होती है तो बच्चे वैसे ही घरों से निकल पड़ते हैं, जैसे मैदानों में वर्षा होने पर। ताजी गिरी भुरभुरी बर्फ को उठाकर एक-दूसरे पर फेंकना बच्चों का मनभावन खेल है। तुम क्या समझ रहे हो कि एक-दूसरे पर बर्फ फेंकने से चोट लग जाती होगी ! नहीं भाई, ऐसा कुछ नहीं होता। वह बर्फ शहरों में बिकने वाली बर्फ की तरह जमी हुई थोड़े ही होती है। मैंने बताया न कि वह बर्फ भुरभुरी होती है और छोटे-छोटे कणों में बिखर जाती है।

इतनी कड़ाके की ठंड पड़ती है कि कुछ पूछो मत। नलों के भीतर का पानी जमकर बर्फ बन जाता है। अब नल की टोंटी

1. आकाशवाणी, दिल्ली से बच्चों के लिए प्रसारित वार्ता।

खोलेंगे तो पानी की बूँद भी नहीं निकलेगी। बर्फ को आँच पर पिघलाकर पानी बनाना पड़ता है।

तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि ऐसे मौसम में भी बच्चे समय पर पढ़ने जाते हैं और खेलते भी हैं। जब बर्फ सड़कों पर जम जाती है तो सख्त हो जाती है। ढलानदार सड़कों पर जमी बर्फ पर चलने में फिसलने का बहुत डर रहता है।

बर्फ से ढके पहाड़ों पर 'स्कीइंग' करने के साहस भरे काम के लिए दीपक और संगीता को पुरस्कृत किया गया था।

तुमने चिड़ियाघर में भेड़िया देखा होगा। यह खूँखार जानवर है। हिमाचल के दो बालकों को भेड़ियों से भिड़ने का साहसपूर्ण कार्य करने पर बाल-पुरस्कार मिल चुका है।

गर्मी का मौसम पहाड़ों पर उतना गर्म नहीं होता। तभी तो मैदानों के लोग गर्मियों में ठण्डे पहाड़ी स्थानों पर चले जाते हैं। हिमाचल में कई स्थान इतने ठण्डे हैं कि वहाँ के लोग गर्मियों में भी गर्म कपड़े पहने रहते हैं।

बरसात में पहाड़ों पर बहुत वर्षा होती है। नाले, खड्डें और नदियाँ पानी से भर जाती हैं। इन्हें पार करना आसान नहीं होता। कच्ची सड़कों पर बसों का आना-जाना बन्द हो जाता है। इसलिए लोग अपने-अपने गाँवों में सिमट कर रह जाते हैं।

छोटे-बड़े मेले और उत्सव होते ही रहते हैं। इनमें बच्चों की उमंग देखने योग्य होती है। नए कपड़े, मिठाइयाँ, खिलौने और हिंडोले पर झूलने का मजा, बन्दर का तमाशा और भालू का नाच उन्हें देखने को मिलता है। घरों में पकवान पकते हैं। स्कूल में छुट्टी की खुशी अलग।

कुल्लू का दशहरा हिमाचल का सबसे बड़ा मेला है। यह कई दिन तक रहता है। हिमाचल के धार्मिक मेलों में आस-पास

के देवता भी पालकियों में लाए जाते हैं। इसमें देश के दूसरे प्रदेशों के लोग भी भाग लेते हैं। मण्डी में शिवरात्रि का मेला, चम्बा में मिंजर का मेला, रामपुर में लवी का मेला, विलासपुर में नलवाड़ी का मेला, रेणुका का मेला, नवरात्रों में कांगड़ा, ज्वालामुखी, चिन्तपुर्णी तथा नयनादेवी में मेले लगते हैं। बैसाखी के दिन कई जगह मेले लगते हैं पर 'रिवालसर' का मेला प्रमुख है। हिमाचल के ऊपरी भागों में नाचने-गाने का खूब रिवाज है। खुशी के अवसरों पर नाच-गाना जरूर होता है।

कहीं तुम यह मत समझ लेना कि पहाड़ों पर रहने वालों के मजे ही मजे हैं। पहाड़ों पर रहने वालों का जीवन कठिन परिश्रम का जीवन है। ऊँची-नीची धरती, चढ़ाई-उतराई वाले रास्ते, छोटे-छोटे खेत और पानी की कमी। पर मेहनती और सादे लोग परिश्रम से घबराते नहीं। बच्चे भी घर के छोटे-मोटे कामों में बड़ों की मदद करते हैं।

हिमाचल सेब का घर है। लाखों मन सेब हिमाचल से सारे देश में जाता है। आड़ू, अलूचा, नाख और खुबानी वहाँ खूब होती है।

देश की फलों की आवश्यकता के साथ इमारती लकड़ी की आवश्यकता को भी यह प्रदेश बड़ी मात्रा में पूरा करता है। बादलों को छूते देवदार के सीधे और ऊँचे पेड़ों के जंगल, चीड़ के वृक्षों के बीच सरसराती हवा तन-मन को शीतल कर देती है।

भरमौर और धौलाधार में रहने वाले गद्दी भेड़-बकरियाँ पालते हैं। ये बर्फ गिरने से पहले ही नीचे के तराई के इलाके में आ जाते हैं और गर्मियाँ शुरू होते ही वापस लौट पड़ते हैं। इनके पास बहुत अच्छे कुत्ते होते हैं जो रात को रेवड़ की रखवाली करते हैं और भेड़ियों तक को भगा देते हैं।

नड़ा की ऊन से पट्टू, पंखाने के कुप्पड़ और चोलटी आदि यहाँ बनते हैं। यह हिमाचल का गृह-उद्योग है। कुल्लू के शाल देश भर में प्रसिद्ध हैं।

निचले क्षेत्रों में गेहूँ बीज देने के बाद किसानों के पास खेती का काम नहीं होता। यही समय है जब लोककथाएं कहने-सुनने का मौसम शुरू होता है। और गेहूँ में बालें निकल आने तक चलता रहता है। कहावत है :

कणकां वाहियां कथां आइयां, कणकां निसरियां कथां बिसरियां।

चूल्हे के पास आग तापते हुए या बिछौने में दुबके कथा कहने-सुनने का रिवाज है।

एक छोटी-सी कथा सुनो :

—कुप्पी-कुप्पी, तू बाड़ कई लुक्की ?
—बाड़ बड्डा।
—बाड़ा-बाड़ा तू कैहं बड्डा ?
—गा घाएं नी खाँदी
—गाई-गाई तू चारू कैहं नी खाँदी ?
—बच्छू नी चुंघदा
—बच्छुआ-बच्छुआ, तू कैहं नी चुंघदा ?
—मालक नी दूहन्दे
—मालको-मालको, तुसां कैहं नी दूहन्दे ?
—कुम्हार पारू नीं दिन्दे
—कुम्हारो-कुम्हारो, तुसां पारू कैहं नी दिन्दे ?
—म्हारा चक चूहयां नीत्या
—चूहयो चूहयो, तुसां चक कजो नीत्या ?
—असां बुझया घुग्गू हुंगा।

इसका अर्थ है :

—ओ कुप्पी ! तू बाड़ में क्यों छिपी है ?

—अरे बाड़ ! तू क्यों बढ़ा हुआ है ?
—गाए घास जो नहीं खाती है ।
—अरी गाए, तू घास क्यों नहीं खाती है ?
—मेरा बछड़ा दूध जो नहीं पीता है ।
—अरे बछड़े ! तू दूध क्यों नहीं पीता है ?
—मालिक दूध नहीं दूहते हैं (और मुझे भी नहीं चुंघाते हैं)
—अरे मालिको ! तुम दूध क्यों नहीं दूहते हो ?
—(कैसे दुहें) कुम्हार दूहने के लिए बर्तन नहीं देते हैं ।
—अरे कुम्हारो, तुम दूध दुहने के लिए बर्तन क्यों नहीं देते ?
—कैसे दें, हमारे बर्तन बनाने के चाक को चूहे ले गए हैं ।
—अरे चूहो, तुम इन कुम्हारों का चाक क्यों ले आए हो ?
—हमने समझा, यह छोटी-सी रोटी होगी ।

कई बार बच्चे किसी से कथा सुनाने का आग्रह करते हैं । उसका मन कथा सुनाने को नहीं है या उसे कथा याद नहीं है । ऐसी हालत में वह कहना शुरू करता है :

—इक था राजा ।

बच्चे समझते हैं, हमारी बात मान ली गई है । कोई बच्चा कहता 'हूँ', करता है, इसे 'हणूणा लेना' कहते हैं ।

कथा कहने वाला आगे कहता है :

—तिसदी धी थी नीती
—दिखा लोको मैं कैडी कथा बीती

अभिप्राय यह है : एक राजा था, उसकी बेटी का नाम था नीती ।

देखो लोगो, मैंने कितनी बड़ी कथा कही ।

अब बच्चों को पता चलता है कि हमें ठगा गया है ।

कथा को अधूरा छोड़ना बुरा समझा जाता है। कथा के अन्त में कहा जाता है : सै तित्थू, असां इन्थू (वे वहाँ और हम यहाँ।) इन्हीं दिनों पहेलियाँ भी बूझी जाती हैं।

हिमाचल की राजभाषा हिन्दी है। किन्तु वहाँ अनेक उपभाषाएँ भी बोली जाती हैं। कुछ शब्दों के पहाड़ी रूप मैं बताता हूँ।

आँख=हाख, कान=कन्न, दाँत=दन्द, नाक=नक्क, फूल=फुल्ल

बच्चे कबड्डी, गुल्ली-डंडा, चूहा-बिल्ली, लुक-छिप के खेल खेलते हैं। लड़कियाँ गुडियों से खेलना पसन्द करती हैं। नरसिंगा, शहनाई और नगाड़ा पारम्परिक वाद्य हैं।

हिमाचल में ऐसे अनेक ठण्डे स्थान हैं जहाँ गर्मियों में लोग सैर-सपाटा करने आते हैं। इनमें शिमला प्रमुख है। यह प्रदेश की राजधानी भी है। इसके अतिरिक्त डल्हौजी, धर्मशाला, कुल्लू और मनाली अन्य प्रसिद्ध नाम हैं।

हिमाचल की पुरानी कांगड़ा-चित्रकला विश्वभर में प्रसिद्ध है। गुलेर में इसका जन्म हुआ था। महाराजा संसार चन्द के शासनकाल में यह कला विकसित हुई थी।

□

नैतिक शिक्षा

हमारे धर्मपरायण देश में नैतिकता की शिक्षा अलग विषय के रूप में देनी पड़े, यह हमारे नैतिक पतन का पुष्ट प्रमाण है।

यहाँ मैं पाकिस्तान के लेखक स्वर्गीय इब्ने इंशा की पुस्तक 'उर्दू की आखिरी किताब' से एक उद्धरण देना चाहूँगा :

एक प्रार्थना :

"या अल्लाह ! खाने को रोटी दे ! पहनने को कपड़ा दे !

रहने को मकान दे ! इज्जत और सुख की जिन्दगी दे !!

मियां, यह भी कोई माँगने की चीजें हैं। कुछ और माँगा करो।

बाबाजी, आप क्या माँगते हैं ?

मैं ?

मैं ये चीजें नहीं माँगता, मैं तो कहता हूँ—अल्लाह मियाँ, मुझे ईमान दे। अच्छे काम करने की क्षमता दे।

बाबाजी, आप ठीक दुआ माँगते हैं। इन्सान वही चीजें तो माँगता है जो उसके पास नहीं होतीं।"

कभी हम चरित्र के विश्व-गुरु थे। मनु महाराज ने कितने आत्मविश्वास से कहा था कि इस देश में जन्मे हमारे पूर्वजों से, पृथ्वी के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ली

और महाराज अश्वपति ने आत्मविश्वासपूर्वक कहा था कि मेरे देश में न तो कोई चोर है, न कंजूस और न शराबी। अग्निहोत्र न करने वाला, अशिक्षित और व्यभिचारी भी नहीं है। फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है।[2]

पर आजआपाधापी की दौड़ में हम ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं, जहाँ नैतिकता की बात करना हास्यास्पद हो गया है। यह पोगापंथी होने का सबूत बन गया है। जिसके पास पैसा है, शक्ति है, पद है समाज उसकी बुराइयों को अनदेखा कर देता है।

'मुझे क्या पड़ी है' कह कर हम बुराई को अनदेखा कर देते हैं और आसुरी शक्तियों को मनमानी करने के लिए खुला छोड़ देते हैं।

नैतिक शिक्षा क्या है ?

जो शिक्षा आचरण को अच्छा, उचित या शुभ बनाती है, वह नैतिक शिक्षा है। यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा समष्टिगत जीवन को महत्त्व प्रदान करना नैतिक शिक्षा का उद्देश्य है। यह कहना अनावश्यक है कि व्यक्ति के विकास के बिना—उसमें उदारता, सेवा, सहनशीलता, पर-दुःख-कातरता, साहस आदि सद्गुणों के बिना समष्टि का विकास संभव नहीं है। गीता में भगवान् ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है :

1. एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
   स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
2. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
   नानाहिताग्नि नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ छान्दोग्य

'परस्पर के सहयोग द्वारा परम श्रेय को प्राप्त करें।[1]

सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि हमारे अनुभव में तीन सर्वोच्च मूल्य दिखाई देते हैं : सत्य, शिव (शुभ) और सौन्दर्य। हमारी चेतना के तीन पक्षों से इनका सम्बन्ध है : ज्ञान, क्रिया और अनुभूति। थोड़ा-थोड़ा करके हम सत्य को जानते हैं, उचित काम को करना सीखते हैं और सुन्दर को पहचानना सीखते हैं। नैतिक शिक्षा प्राप्त छात्र का नैतिक विवेक पूर्वापेक्षया अधिक सूक्ष्मग्राही होना चाहिए तथा जो उचित तथा शुभ है, उसे करने में उसे पहले से अधिक या अपेक्षाकृत अधिक तत्परता दिखानी चाहिए और जो अनुचित या अशुभ है, उसकी अल्प-स्वरूप मात्रा से भी बचना चाहिए।

किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि नैतिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नैतिक होगा ही। और न यही आवश्यक है कि जिसने नैतिक शिक्षा का अध्ययन नहीं किया है, वह नैतिक नियमों का पालन नहीं करेगा। नैतिक शिक्षा का प्रयोजन मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों की जानकारी देना है। उन्हें व्यवहार में कैसे लागू किया जाए, यह तो परिस्थिति के अनुसार स्वयं निर्णय करना होगा। क्योंकि नैतिक शिक्षा व्यावहारिक शास्त्र है, इसलिए वह क्रियाशीलता से जितनी समझ में आता है, उतना केवल चिन्तन-मनन से नहीं। अच्छा मनुष्य वह है जो अच्छा कार्य करता हो, न कि वह जो अच्छा कार्य कर सकता हो। अरस्तू ने आचरण को 'चुनाव की आदत' कहा है। चाहे हम कार्य करने का चुनाव करें या न करने का, दोनों हालतों में हम चुनाव ही करते हैं। फिर भी नैतिकता की कसौटी कला की कसौटी से भिन्न है। कला में अन्तिम निर्णय कलाकार की बनाई हुई चीज पर निर्भर करेगा,

१. परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। ३/११ गीता

किन्तु नीति-शास्त्र में कार्य-सम्पादन के पीछे काम कर रही भावना या विचार-सरणी को महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

नैतिक शिक्षा हमें न केवल उचित और शुभ का ज्ञान कराती है, बल्कि आत्मविकास से प्रारंभ करके, परिवार, ग्राम, जनपद राष्ट्र और जीवमात्र के प्रति कर्त्तव्यपरायण भी बनाती है। वह हमें सिखाती है कि मार्ग की विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी कर्त्तव्य-कर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। इस तरह समग्र जीवन और विश्व उसका कार्य-क्षेत्र बन जाता है। एक अच्छा व्यक्ति यद्यपि अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल बनाता अवश्य है पर साथ ही अपने पर्यावरण को सुधारने का प्रयत्न भी करता है।

जहाँ यह सच है कि व्यक्ति का सारा जीवन उस सामाजिकता का सापेक्ष बना रहता है, जिसका वह अंग होता है, वहाँ यह भी सच है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही सामाजिकता की सिद्धि होती है।

संघर्ष भीतरी हो या बाहरी, इसका जन्म उस दशा में होता है, जब व्यक्ति समाज के हित और अपने व्यक्तिगत लाभ में समरसता नहीं कर पाता। इस स्थिति में उसे सामाजिक कर्त्तव्य सदा भार रूप लगते हैं और वह सामाजिकता के विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारू हो जाता है।

जिस तरह व्यक्ति के जीवन में सद्गुण और दुर्गुण संभव है, उसी तरह समाज में भी ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनसे नैतिकता को प्रोत्साहन मिले या उसका अपकर्ष हो।

सभ्यता की सच्ची परिभाषा तो यही होनी चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि जिसमें सद्गुणों की उपलब्धि जितनी सुगम हो, दुर्गुणों की स्थिति उतनी ही कठिन हो जाए। पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं है। ऐसा लगता है कि वर्तमान में सद्गुण और दुर्गुण दोनों अपना अर्थ खो रहे हैं। अब तो

पद और जय में हो तो सद्गुण तनिक भी रह है और आधुनिक सभ्यता ने दुर्गुणों को भी सामाजिक स्वीकृति दे दी है और उनकी निकृष्टता को कम कर दिया है। घूसखोरी जैसी बुराई आज हमारे व्यवहार का स्वीकृत अंग बन गई है।

हमें इसी पर्यावरण में रहते हुए, इसे बदलने, सुधारने का प्रयत्न करना है। हम यथास्थिति को स्वीकार करके, उसे नियति मान कर चुप नहीं बैठेंगे। संघर्ष में ही चरित्र निखरता है। यह प्रसन्नता की बात है कि विचारकों और शिक्षाशास्त्रियों ने नैतिक शिक्षा को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर उसे विद्यालयों में पढ़ाना स्वीकार किया है।

संस्कार-निर्माण के लिए बाल्यावस्था उपयुक्त समय है और विद्यालय इसके लिए उपयुक्त संस्था है। जो बालक कच्ची अनगढ़ मिट्टी या कोरे कागज जैसे हैं, उनको सुपात्र बनाया जा सकता है या उन पर सद्गुणों के मूर्तिमन्त चित्र उकेरे जा सकते हैं।

नैतिक शिक्षा किसी विशेष धर्म-संप्रदाय की शिक्षा न होकर मानवधर्म की शिक्षा है और इसमें सभी धर्म-संप्रदायों की अच्छी बातें आ जाती हैं।

नैतिक शिक्षा जितनी अच्छे संस्कार-निर्माण की शिक्षा है, उतनी सुधार की नहीं। क्योंकि कोई भी घटना अपने देश-काल और परिस्थिति में मौलिक होती है। इसलिए नैतिक शिक्षा यह नहीं बता सकती कि अमुक घटना के समय आपका व्यवहार कैसा हो। वह तो नैतिकता के निर्देशक सिद्धान्तों को समझाती है। वह हमारी विचार-शक्ति, विवेक को उद्बुद्ध करती है और सत्य, शिव और सुन्दर की पहचान बताकर उसके पक्ष में निर्णय देने को कहती है।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि नैतिकता की कसौटी यह

नहीं है कि हम क्या जानते हैं, बल्कि यह है कि हम क्या करते हैं, और जो करते हैं, उसके पीछे हमारी भावना क्या है। विचारों को संस्कारों में बदलना और संस्कारों को आदत का रूप देना इस शिक्षा का उद्देश्य है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहाँ तक विद्यालय की भूमिका का प्रश्न है, उसके समग्र क्रिया-कलाप को ऐसा होना चाहिए कि नैतिकता प्रत्येक छात्र के व्यवहार में रच-बस जाए।

१. विद्यालय का समग्र वातावरण प्रेरणाप्रद हो और अध्यापकों का चरित्र जीवित-जाग्रत दृष्टान्त हो।

२. नैतिक शिक्षा के नियमों की जानकारी पाठ्यक्रम के माध्यम से मिले और

३. जाने हुए को दैनिक व्यवहार में ढालने का प्रयोग हो।

४. विद्यालय में पढ़ाए जाने वाले सभी विषयों के अध्यापक इस बात के लिए सचेष्ट हों कि विषय में जहाँ कहीं भी कोई उपयुक्त प्रसंग आए, वहाँ उसे नैतिकता के सन्दर्भ से जोड़ने का प्रयत्न करें।

इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों द्वारा भी इस लक्ष्य को प्राप्त करने का ध्यान रखें। उदाहरण के रूप में स्काउटिंग, एन० सी० सी०, सदन-प्रणाली, पुस्तकालय, वाद-विवाद प्रतियोगिता, प्रशिक्षण शिविर आदि को नैतिक शिक्षा का साधन बनाया जा सकता है।

नैतिक शिक्षा में उपदेशात्मक विधि की अपेक्षा प्रेरक प्रसंगों के दृष्टान्तों को प्राथमिकता देनी चाहिए और अपने तथा दूसरों के साथ घटित सजीव सन्दर्भों को प्रभावशाली ढंग से बताना चाहिए।

पर इन सबसे बढ़कर प्रभावकारी होगा, गुरुजनों का अपना ही चरित्र। यदि गुरुजनों की कथनी और करनी में अन्तर हुआ

तो निश्चित है कि अन्य सारे प्रयत्न रेत की दीवार सिद्ध होंगे।

यदि यह कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा कि छात्रों में नैतिक नियमों की उपेक्षा करने का भाव बड़ों को देखकर ही आता है। अब यदि बड़े लोग नैतिक नियमों के पालन के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे तो छोटे भी उनका अनुकरण करेंगे।

सच तो यह है कि संस्कार-निर्माण का कार्य घर से ही प्रारंभ होता है। पर बहुत से घरों में माताएं शिक्षित नहीं होतीं। जो पढ़ी-लिखी हैं, वे भी बाल-शिक्षण की विधियों से परिचित नहीं होतीं। पिता अपनी नौकरी या व्यापार की व्यस्तता में प्रातः जल्दी घर से निकल जाते हैं और शाम को देर से लौटते हैं। उनका बच्चे से नाम मात्र का ही सम्पर्क होता है। वे प्रायः बालक सम्बन्धी सारी बातों को उसकी माता की जिम्मेदारी समझते हैं। यही नहीं, यहाँ तक देखा गया है कि जब कभी अध्यापक बालक सम्बन्धी किसी समस्या के लिए पिता को बुलवाते हैं, तो भी वे अध्यापकों से सम्पर्क नहीं करते। विद्यालय में बालक को प्रविष्ट करवा कर यह समझना कि अब बालक के भविष्य को संवारने की जिम्मेदारी अध्यापकों की है, न केवल अपने आपको धोखा देना है, बालक के भविष्य के साथ भी खिलवाड़ करना है।

यह कहा जा सकता है कि जो पिता समझते हैं कि वे पुत्र-पुत्रियों के भोजन-वसन की व्यवस्था करके और पढ़ाई का खर्चा देकर कर्त्तव्यमुक्त हो गए, वे अपने बुढ़ापे को खराब करने के सिवा और कुछ नहीं कर रहे हैं। एक श्रेणी उन माता-पिताओं की भी है, जो पास-पड़ोस वालों या अपने सम्बन्धियों पर झूठा या सच्चा रौब डालने के लिए अपनी अमीरी का प्रदर्शन करते रहते हैं। मूर्खतावश बच्चों को ज्यादा जेब खर्च देते हैं और अपने लिए अनजाने ही कांटे बोते रहते हैं।

बच्चों को बात-बात पर निर्दयता पूर्वक पीटने वाले माता-पिता, मद्यप, और भ्रष्ट तरीकों से रुपया बटोरने वाले पिता, सास-ससुर, जेठानी और देवरानी से कलह करने वाली माता, मोह-ममतावश या एकमात्र सन्तान से बेहद लाड़-प्यार करने वाले माता-पिता, बच्चों की हर जिद को पूरा करने वाले, ये सभी तरह के अभिभावक बच्चों के भविष्य को बिगाड़ने वाले ही होते हैं।

प्रायः देखा गया है कि घर के बड़े लोग बालक को टालने के लिए दिन में कई-कई बार झूठ बोलते हैं। माता-पिता सिनेमा देखने जाते हैं और बालक से कहते हैं कि वे डाक्टर के पास जा रहे हैं। बालक डाक्टर के नाम से प्रायः डरते हैं क्योंकि उन्हें डाक्टर की सुई का भय दिखाया जाता है। इसी तरह अन्य अनेक प्रसंगों में भी झूठ का सहारा लिया जाता है। कई बार बालक जान जाता है कि उसे बहकाया जा रहा है। आप बालक में जिन गुणों का विकास करना चाहते हैं, उन गुणों को अपनाने पर उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि बालक से कोई भूल हो गई है और वह सच-सच बता देता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाना चाहिए।

महापुरुषों के जीवन के, नैतिकता को पुष्ट करने वाले प्रसंग सुनाना, विशेष रूप से बाल-जीवन और छात्र-जीवन के प्रेरक प्रसंगों को कविता, कहानी या नाटक के माध्यम से प्रस्तुत करना गुणकारी होता है। समय-समय पर आमंत्रित विद्वानों के प्रवचन भी प्रभावकारी होते हैं।

और सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि प्राचार्य और अध्यापक सच्चे अर्थों में यह दृष्टिकोण अपनाएं कि हम राष्ट्र-निर्माण का गौरवपूर्ण कार्य करने लिए नियुक्त हैं, मात्र नौकरी नहीं कर रहे हैं। □

बालक के विकास में पुराण कथाओं का महत्त्व

प्राचीन समय में आज की तरह पुस्तकें सुलभ नहीं थीं। यही कारण है कि भारत में 'श्रुत' ज्ञान की लम्बी परम्परा विद्यमान है। 'वेद', जिन्हें हम अपने धर्म का मूल मानते हैं, 'श्रुति' कहलाते हैं! 'श्रुति' हमारे सारे ज्ञान का आधार है। हमारे देश में 'बहुश्रुत' लोगों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इस देश के बहुसंख्य लोग आज के अर्थ में 'लिखना-पढ़ना' भले ही न जानते रहे हों, उन्हें 'साक्षर' भले ही न कहा जा सके, पर वे 'अज्ञ' नहीं, 'विज्ञ' थे।

सभी जानते हैं, हमारे गाँवों में हजारों वर्षों से यह प्रथा चली आ रही है कि लोग प्रायः दिन भर के काम-काज के बाद एक जगह इकट्ठे होकर कथावाचक से रामायण, महाभारत, भागवत् तथा अन्य पुराण-ग्रंथों की कथाएं सुनते रहे हैं। चौमासे में कथा-वार्ता सुनने का विशेष रिवाज था। व्रतों और पर्वों की कथाएं स्त्री समाज में खूब प्रचलित रही हैं। घरों में बड़े-बूढ़े भी सर्दियों की लम्बी रातों में, सोने से पूर्व बालकों को कथाएं सुनाकर न केवल उनका मनोरंजन करते थे, सच्चे अर्थों में शिक्षित भी करते थे। इन कथाओं में नैतिक और आध्यात्मिक सत्य अन्तर्निहित होते थे और वे कथा-श्रवण के समय चाहे आंशिक रूप में भी समझ आते हों या न आते हों, ज्यों-ज्यों बालक की समझ बढ़ती

थी, बीज रूप में वे तत्त्व भी विकसित होने लगते थे और अनायास बालक की भावभूमि में गहरे पैठ जाते थे। कई बार किसी गहन तत्त्व को समझाने के लिए उपदेशक दृष्टांत रूप में कहानियों का सहारा लेते थे और ज्ञान की गहरी से गहरी बातों को समझाने में समर्थ होते थे। इन कथाओं में संस्कार-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। इन्हींके माध्यम से हमारे मनीषियों ने लोकशिक्षण का गुरुतर कार्य बिना किसी व्ययसाध्य योजना के सम्पन्न किया था। आज हम कितने ही महापुरुषों के जीवन-चरित्रों में पढ़ते हैं कि वे बचपन में अपने बड़ों से रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुना करते थे।

पश्चिमी शिक्षा के कुप्रभाव, पारिवारिक जीवन के विशृंखलित होने और पुस्तकों की सुलभता के कारण इस परम्परा को बड़ा आघात लगा है, जो हमारे लिए चिंताजनक है। आधुनिक शिक्षित वर्ग जिसने फैशन के रूप में प्रगतिशीलता का चोगा पहन रखा है, एंडर्सन और ग्रिम की परीकथाओं को भले ही पढ़ता हो, पुराणों के नाम पर मूर्खतापूर्ण ढंग से नाक-भौं सिकोड़ता है जबकि इनमें आत्मज्ञान का भंडार भरा हुआ है।

इनका उपहास करना या अपनी सभ्यता-संस्कृति की पुरानी स्थितियों की निंदा करना, वैसी ही मूर्खता है जैसे यह कहना कि भवन की नींव का कोई महत्त्व नहीं है। यह कार्य वैसा ही निंदनीय है, जैसे अपनी नानी-दादी का सम्मान न करना।

मनीषी आनंदकुमार स्वामी ने लिखा है कि प्राचीन गाथाएं भी कला के समान मनुष्य की पूर्णतम अन्तर्दृष्टि का परम्परागत वाहन हैं। क्योंकि यह वाहन अपेक्षाकृत सूक्ष्म उपादानों से निर्मित है, इसलिए कल्पान्त स्थायी है। इनका संग्रह और प्रसार इसीलिए पुण्यप्रद भी है। सभी धर्मों की पुराण-गाथाओं में यह आध्यात्मिक तथ्य वर्णनात्मक ढंग से विद्यमान होता है। एक पीढ़ी दूसरी

पीढ़ी के लिए सरलता के साथ इस ज्ञान को संप्रेषित कर सकती है, करती रही है। बाल जीवन के प्रारंभिक वर्ष इस दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण होते हैं।

हमारे मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने भगवान् वेदव्यास और उनकी परम्परा के सूत-शौनक ने, आदि कवि वाल्मीकि और वशिष्ठ ने, बुद्ध और ईसा ने, आधुनिक युग के रामकृष्ण परमहंस और अन्य सन्तों ने इन कथाओं के माध्यम से धर्म के रहस्यों की लोकमानस में प्रतिष्ठा की है।

हमारे गौरव-ग्रंथ, वे चाहे काव्य हों या नाटक इन्हीं प्राचीन कथानकों पर आधारित हैं। पुराणों में एक भी अश्लील शब्द कहे बिना प्रेम की उज्ज्वलता का जैसा हृदयहारी चित्रण उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसी तरह वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत और भयानक सभी रसों की अनगिनत कथाओं के ये कोश हैं। प्रायः लोग पुराणों की प्रक्रिया और शैली को समझे बिना उन पर आक्षेप करने लगते हैं, जो अनुचित है। पुराण आर्य-संस्कृति और भारतीय विद्याओं के भण्डार हैं।

भ्रांत धारणाओं का एक कारण यह भी है कि इतिहास और पुराण को एक समझ लिया जाता है, जो यथार्थ नहीं है। पुराणों को पढ़ते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ये सभी कथाएं केवल मानव-इतिहास की कथाएं ही नहीं हैं, इनमें सृष्टि के निर्माण-काल के, ग्रह-नक्षत्रों से संबंधित तथा मानव-भावनाओं का मानवीकरण करके भी अनेक कथाएं कही गई हैं।

'अधर्म' की 'मिथ्या' नाम की पत्नी थी। उससे 'दम्भ' नामक पुत्र और 'माया' नाम की कन्या उत्पन्न हुई। फिर 'दम्भ' एवं 'माया' से 'लोभ' नाम का पुत्र तथा 'हिंसा' नाम की कन्या ने जन्म लिया।

इसे पढ़कर कोई यह परिणाम निकाले कि कभी सगे भाई-

बहन का विवाह होता था तो वह उसके मन्दमति होने का ही प्रमाण होगा।

पुराण वाचन के वर्ष-व्यापी कथा-सत्र होते थे और उसमें राजा से लेकर रंक तथा ग्राम्यजन से लेकर परमहंस तक भाग लेते थे। पुराण, एक ऐसा अमृत सरोवर है, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने बुद्धिरूपी पात्र के अनुसार यथेष्ठ अमृत को ग्रहण कर सकता है।

वेदान्त का अद्‌भुत ग्रंथ 'योग वाशिष्ठ' देश-काल की अवधारणा नकारने तथा सहजावस्था जैसी स्थितियों को दर्शाने वाली कथाओं से पूर्ण है। उसकी एक 'बाल-आख्यायिका' मैं यहाँ संक्षेप में उद्‌धृत कर रहा हूँ :

'धाई माँ ! अच्छी-सी एक कहानी सुनाओ न !' शिशु ने धात्री माँ से कहा।

'सुनो, एक मिथ्या नगर था। उसमें आदमी नहीं रहते थे। उसमें राजा के तुम्हारे जैसे तीन लड़के थे। उनमें दो अभी जन्मे ही नहीं थे और एक अभी गर्भ में नहीं आया था। वे खूब धन कमाने के लिए दूसरे नगर की ओर चले। उनका शरीर बड़ा कोमल था। कुछ दूर चलने पर वे थक गए।' धात्री ने कहा। वह रुकी।

'फिर क्या हुआ ?'

'धूप में उनका शरीर कुम्हला गया। कमल जैसे कोमल हाथ-पैर ज्येष्ठ के कमल की तरह सूख गए। पैरों में फफोले पड़ गए। धूल से उनका शरीर धूसर हो गया।'

इतना सुनकर श्रोता शिशु का मुख भी कुम्हला गया।

धाई माँ ने उसे पुचकारते हुए कहा, 'जब बहुत ज्यादा थक गए तो उन्होंने तीन वृक्ष देखे। उनमें दो पैदा ही नहीं हुए थे और तीसरे का बीज ही धरती में नहीं पड़ा था। उनकी छाया

में तीनों ने विश्राम किया। फिर फल तोड़कर खाए और फूलों की मालाएँ बना कर पहनीं।'

श्रोता शिशु ने चैन की साँस ली। उसका कुम्हलाया मुख फिर खिल उठा।

धाई माँ ने कहानी आगे बढ़ाई, विश्राम करके वे चल पड़े। धूप तेज हो गई थी। तीनों का गला प्यास से सूखने लगा। उन्होंने तीन नदियाँ देखीं। वे शीतल जल से भरी हुई थीं। किंतु उनमें से दो नदियाँ तो थी ही नहीं और तीसरी सूखी थी। वे तीनों उनमें खूब नहाए और पेट भर पानी पिया।'

'माँ पानी'। श्रोता शिशु ने पानी माँगा। धात्री पानी ले आई तो पीकर शिशु बोला, 'माँ बड़ी अच्छी कहानी है। फिर क्या हुआ ?'

'पानी पीकर वे आगे चले। उन्हें भविष्यत नगर दिखाई दिया। शाम हो चली थी। उन्हें तीन मकान दिखाई दिए। उनमें से दो थे ही नहीं और तीसरे की दीवारें उठने को थीं।'

'वे तीनों उनमें ठहर गए। भूख लग रही थी। उन्होंने विचार किया कि पहले ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, फिर स्वयं करना चाहिए।'

'अच्छा फिर ?' शिशु ने पूछा।

'उन्होंने सोने के तीन बड़े पात्र मंगवाए। उनमें दो थे ही नहीं और तीसरा सोने का चूर्ण मात्र था। उन्होंने भोजन बना कर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और निर्मुख ऋषियों को भोजन कराया।'

'फिर क्या हुआ ?' जिज्ञासु शिशु उदग्रीव माँ की ओर देख रहा था।

'उसके बाद तुम्हारे जैसे सब राजकुमारों ने भोजन किया और वे उस नगर में रहने लगे।'

'मैं भी खाऊँगा धाई माँ।'

'हाँ-हाँ, तुम भी खाना।'

संसार की तरह कल्पित इस कहानी को अबोध शिशु सच समझ बैठा। वह प्रसन्न था। धात्री मुस्कराती हुई उठी और उसके लिए भोजन लेने चली गई।

उपनिषदों में बड़ी सुन्दर कथाएं हैं और उनमें शिक्षा एवं संस्कार-निर्माण की प्रभूत क्षमता है। पुराण-उपपुराण तो कथाओं का अक्षय कोश ही हैं, उनमें आधुनिकतम विषयों की कहानियाँ उपलब्ध हैं। जैसे कृत्रिम उपग्रह, लड़ाकू विमान, निशस्त्रीकरण, विदेशी हस्तक्षेप, सीमा-विवाद आदि-आदि।

महाभारत भी कहानियों का भण्डार है। जातक कथाएं, कथा सरित सागर, पंचतंत्र, हितोपदेश अन्य पुराने कथा-संग्रह हैं। यह सच है कि शिष्ट साहित्य लोक-साहित्य का ऋणी है।

मैं उन लोगों से कतई सहमत नहीं हूँ जो पुराण-कथाओं को तर्क-सम्मतरूप देने के लिए उन्हें विकृत करते हैं। ऐसा करने की अपेक्षा उन्हें मौलिक कथाएं लिखनी चाहिए।

□

हिन्दी बाल साहित्य : वर्तमान और भविष्य

एक सज्जन अपने पाँच वर्ष के बच्चे को लेकर किसी बाल-शिक्षा विशेषज्ञ के पास गए और उनसे उसकी शिक्षा के विषय में सलाह माँगी।

शिक्षा-विशेषज्ञ ने कहा—'श्रीमान्! आप छः वर्ष की देर करके आए हैं।' यह घटना पश्चिम की है।

हमारे यहाँ की प्राचीन जीवन-पद्धति में सोलह संस्कारों का विधान है और उनमें से १२ का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व की अवस्था से है। हमारा पहला संस्कार है गर्भाधान और होने वाली माता को सद्गुणी पुत्र की प्राप्ति के लिए अनेक नियमों-व्रतों का पालन करना पड़ता है।

जातकर्म संस्कार के मंत्रों में कहा गया है: 'अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमयुतं भव।' इसका अभिप्राय है कि चट्टान की तरह दृढ़ बनो, विघ्न-बाधाओं को काटने के लिए परशु जैसे बनो। और सुवर्ण की तरह तेजस्वी बनो।

और जब शिक्षा पूरी करके अन्तेवासी घर लौटने लगता था तो आचार्य कहता था: सत्यं वद, धर्मं चर·····यानि यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नेतराणि। सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना····· और जो-जो हमारे अच्छे आचरण हैं, तुम्हें वे ही सीखने हैं, दूसरे नहीं।

महान् विचारक प्लेटों के, बालशिक्षा के सम्बन्ध में विचार मननीय हैं। वह बच्चों का शिक्षण, पौराणिक, धार्मिक, नीति कथाओं और पवित्र गाथाओं से प्रारंभ करना चाहते हैं, ताकि वे भावी जीवन में सदाचारी एवं नीतिवान बनें।

परन्तु मेरे कुछ समानधर्मा मित्रों के इस कथन से कि 'बच्चों का जीवन स्वतन्त्र जीवन है, वह वयस्क जीवन की भूमिका मात्र नहीं है, ··· उसके जीवन के लघु क्षण आनन्दपूर्वक जीने के लिए हैं, वयस्क जीवन की तैयारी मात्र के लिए नहीं, सहमत हो पाना कठिन है। आनन्दपूर्वक जीना बड़ों को भी बुरा नहीं लगता। 'आनन्द' तो सभी को इष्ट है। काश कि यह दुनिया एक अच्छी सैरगाह होती और हम मनमौजी ढंग से इसमें अपना जीवन बिता पाते। पर दुर्भाग्य से ऐसा है नहीं।

बचपन के लघु क्षणों को आनन्दपूर्वक बिताने के बाद जब वयस्क जीवन की विभीषिकाएं सामने आएंगी तो व्यवहार ज्ञान शून्य और मूढ़ व्यक्ति किस प्रकार उनका सामना करेगा।

कुछ दूसरों का कहना है कि आज का युग विज्ञान का युग है, इसलिए बालकों को केवल विज्ञान सम्मत साहित्य ही देना चाहिए। वे लोक कथाओं, पौराणिक कथाओं और परी कथाओं का बहिष्कार करना चाहते हैं। उनका कहना है कि केवल तर्क की कसौटी पर खरा उतरने वाला साहित्य ही आज के बालक के लिए उपयोगी है। इन बेचारों की स्थिति उन लोगों जैसी ही दयनीय है जो कल तक महाभारत युद्ध के समय युद्ध-क्षेत्र से दूर होते हुए भी, संजय द्वारा धृतराष्ट्र को युद्ध का हाल सुनाने को गप्प कहा करते थे और आज टेलिविजन पर कमेंट्री सुनते हैं। ये बेचारे नहीं जानते कि विज्ञान के बढ़ते चरण भविष्य में कितने ही अनजाने क्षेत्रों में पहुंचेंगे और आज जो असंभव लगता है, वह कल संभव हो

कथा का पात्र बनाना ठीक नहीं समझते। वे कथानक रूढ़ियों, मिथकों और रहस्य-गर्भ रूपक कथाओं की शक्ति से नितान्त अपरिचित हैं। वे अपने देश के सांस्कृतिक मूल्यों से भी अनभिज्ञ है। वे यह भी नहीं जानते कि एक अवस्था विशेष में बच्चे को इन सबसे तादात्म्य स्थापित करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती।

बालकों के स्वस्थ मनोरंजन एवं आत्मिक विकास के लिए बाल-साहित्य को एक विशिष्ट भूमिका निभानी है। स्ततंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के वर्षों में जितना कुछ हुआ, वह कैसा हुआ इस पर विचार करने के साथ-साथ जितना और जैसा होना चाहिए, इस पर भी विचार करना होगा, ताकि इस विचार-मंथन से हम भविष्य के लिए दिशा-निर्देश प्राप्त कर सकें।

बालक के शारीरिक विकास के लिए जहाँ पहली आवश्यकता पोषाहार है, वैसे ही उसके मानसिक विकास के लिए स्वस्थ साहित्य भी पहली आवश्यकता है।

भारत में कठिनाई यह है कि अधिक संख्या में माता-पिता पढ़े-लिखे नहीं हैं, मात्र इतना ही नहीं है, बल्कि वे एकदम निरक्षर हैं। इसलिए ऐसे माता-पिताओं तक बाल-कल्याण से संबंधित बात पहुंचा पाना कठिन है। इसके लिए सरकार प्रौढ़ शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दे रही है।

महात्मा गाँधी ने ग्रामोन्मुखी विकास पर बड़ा बल दिया था, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस दिशा में तनिक भी प्रगति नहीं हुई। फलतः गाँव अपनी दयनीय स्थिति में आज भी पिछड़े हुए हैं और नगर फैलते जा रहे हैं। पर सच्चाई यह है कि हमारे देश की अस्सी प्रतिशत जनता आज भी गाँवों में रहती है। पर हमारे सभी आयोजन शहरियों तक ही होकर

रह जाते हैं, वे कस्बों तक भी नहीं पहुँच पाते, गाँवों की तो बात ही अलग है।

इस प्रकार जहाँ तक बाल-साहित्य का प्रश्न है, उसका यत्किंचित् लाभ नगरों को ही प्राप्त हुआ है। हमारे ग्रामवासी बच्चे तो जिस पुस्तक से परिचित हैं वह है पाठ्य पुस्तक। वे इस बात से अनभिज्ञ हैं कि पाठ्य पुस्तक से भिन्न और भी कोई पुस्तकें होती हैं।

हिन्दी में बाल-साहित्य में जो कार्य हुआ है उस पर एक दृष्टि डालने पर हमारे सामने कुछ तथ्य उभर कर आते हैं। वे ये हैं :

(१) मौलिक बाल साहित्य की कमी।

(२) विदेशी पुस्तकों के अनुवाद अधिक, पर स्तरीय अनूदित साहित्य की कमी।

(३) भारत की प्रादेशिक भाषाओं के बाल साहित्य का अनुवाद नहीं।

(४) लोक कथाओं के संपादन अथवा पुनर्कथन में वैज्ञानिक विधि का अनुसरण नहीं।

(५) कथा-कहानी, जीवनी, विज्ञान आदि विषयों में परिमाण की दृष्टि में भले ही अधिक साहित्य उपलब्ध है, पर बालकों की भाव-भूमि का सम्यक् ध्यान नहीं रखा गया है।

(६) उपन्यास, नाटक, यात्रा, साहसिक अभियान, खेल-कूद, गीत-कविता आदि क्षेत्रों में अधिक साहित्य-सर्जन नहीं हुआ है।

(७) भूगोल, इतिहास, पुरातत्व, ललित कलाएं आदि विषयों में तो कुछ लिखा ही नहीं गया।

(८) कुछ बाल-पत्रिकाएं निःसंदेह बालकों में पढ़ने के प्रति रुचि उत्पन्न करने का अच्छा कार्य कर रही हैं, इस पर भी वे बहुधा फार्मूलों से उठकर कुछ अधिक नया नहीं दे पा रही हैं। विडम्बना यो यह है कि कुछ बड़ी बाल-पत्रिकाओं के सम्पादक स्वयं बाल-साहित्यकार नहीं हैं और वे बाल-साहित्य की आलोचना भी प्रकाशित नहीं करते।

(९) आकाशवाणी के बाल-कार्यक्रमों में साहित्य की बजाय अन्यान्य विषयों की भरपूर सामग्री रहती है, पर वह साहित्य की सहायक भले ही हो, पूरक कभी नहीं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाल-साहित्य की नितांत उपेक्षा की गई है। क्या किसी इतिहासकार ने बाल-साहित्य अथवा बाल-साहित्यकारों के विषय में थोड़ा-बहुत भी लिखने की जहमत उठाई है?

दरअसल बाल-साहित्य एक स्वतंत्र साहित्य विधा है। इसकी अपनी सीमाएँ हैं, अपनी आवश्यकतायें हैं। इसके उत्तरदायित्व एवं इससे अपेक्षाएं भी भिन्न हैं। इस क्षेत्र में पश्चिम हमारा अगुआ है और वहाँ अधिक कार्य हुआ है। किन्तु पश्चिम में वर्तमान पीढ़ी के नवयुवकों की जो मानसिकता है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि वहाँ कुछ गलत जरूर हुआ है। इसलिए देश की संस्कृति के अनुकूल जो हो और जितना हो, उसे ही ग्रहण करना चाहिए।

बाल साहित्यकार को रचना करते समय अपने पाठकों के मानसिक विकास, उनकी रुचि, भाव और भाषा-ज्ञान की सीमाओं को अच्छी तरह अपने सम्मुख रखना होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि बच्चों में जिज्ञासा विविधतापूर्ण होती है और रुचि भी अनेक मुखी। पर उनके मन का विकास उतना

नहीं होता, और भाषा-ज्ञान भी सीमित ही होता है। बस, सीमित शब्दावली में उसे ऐसी भाव-भूमि पर अपनी बात कहनी होती है जो उसके बाल-पाठक के हृदय को छू सके और उसके मनो-विकास में योग दे सके। क्योंकि यहाँ संप्रेषण का माध्यम भाषा है, इसलिए अवस्था विशेष के पाठक के लिए लिखते समय उसके सीमित भाषा-ज्ञान की उपेक्षा करके अपनी बात नहीं समझाई जा सकती।

अत: बालकों की अवस्था की दृष्टि से बाल-साहित्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है— (१) पहला वर्ग—७ से १० वर्ष (२) दूसरा वर्ग—११ से १४ वर्ष।

प्रथम वर्ग के बालकों का संसार बहुत छोटा होता है। घर, पास-पड़ोस और पाठशाला। बाजार, खेल-कूद, सम्बन्धी और मित्र तथा परिवेश के पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु भी इसमें सम्मिलित हैं। इसमें आसपास के नदी-नाले खेत, और जंगल आ जाते हैं।

इस वर्ग के बालक कल्पनाशील और घटना-प्रधान रचनाओं को पसंद करते हैं। इन रचनाओं की भाषा सरल और वाक्य छोटे होने चाहिए। रचना का आकार भी छोटा ही रहना चाहिये। शब्दावली भी बालक के परिवेश से बहुत बाहर की नहीं होनी चाहिये। अमूर्त विषयों तथा भयानक दृश्यों और घटनाओं के चित्रण से लेखक को बचना चाहिये।

इस बाल वर्ग की पुस्तकें मोटे टाइप में, चित्रों से भरपूर ३२ पृष्ठों से बड़ी न हों तो ठीक है। पुस्तक पूरी तरह खुल सके, इसके लिए उसका सेंटर स्टिच होना जरूरी है। पुस्तक का कवर मजबूत और सुन्दर रंगीन डिजाइन का होना चाहिये। पुस्तक के भीतर के चित्र रंगीन हों तो बालक ज्यादा पसन्द करते हैं। इस वर्ग की पुस्तकों के चित्र यथार्थ तथा विषय को

सुबोध बनाने वाले होने चाहिये।

पुस्तक की विषय वस्तु को बच्चे पसन्द करते हैं या नहीं, इसे परखने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि एक से अधिक बच्चों से पढ़वा कर देखा जाए और उनसे उनकी सम्मति पूछी जाए। जब वे पढ़ रहे हों तो उनकी प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाए।

दूसरे (११ से १४ वर्ष तक) आयु वर्ग का बालक चाहता है कि उसे निरा बच्चा न समझा जाए। वह चाहता है कि उसके व्यक्तित्व को स्वीकारा जाए और उसे जिम्मेदारी के काम सौंपे जाएँ ताकि उन्हें करके वह बड़ों जैसा सम्मान पा सके। इस आयु वर्ग में वीर-पूजा का भाव जाग्रत हो जाता है और वे साहस तथा जोखिमपूर्ण कथावस्तु को पसन्द करते हैं। इसी अवस्था के बालक सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख होते हैं। यह अवस्था सामूहिक जीवन, सहयोग, नागरिकता आदि गुणों के विकास के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है। भाषा, अभिनय तथा वाद-विवाद में भाग लेने की प्रवृत्ति का बीजारोपण इसी अवस्था में होता है।

इस वर्ग के बालक पुराण, इतिहास, जीवनी, यात्रा, खेल-कूद तथा वीर-पूजा से सम्बन्धित रचनाएं पसन्द करते हैं। अपने देश के इतिहास-भूगोल और महापुरुषों के बारे में जानकारी प्राप्त करना उन्हें अच्छा लगता है।

इस अवस्था के बालक अच्छे पाठक होते हैं। वे बाल-विश्वकोष, निबन्ध, पुराण तथा इतिहास-भूगोल के माध्यम से भी अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं। पुस्तकों के माध्यम से वे ज्ञान के नए-नए क्षेत्रों से परिचित होते हैं और उनकी जिज्ञासा और भी बढ़ जाती है।

हमारे नगरों में एक विशेष वर्ग रहता है। यह जनसाधारण

नहीं है। इसमें बड़े अधिकारी, धनिक और इसी तरह के लोग सम्मिलित हैं। इनकी तरह इनके शिशुओं को भी कई रियायतें उपलब्ध हैं। जैसे साधारण जनता के बच्चे छठे वर्ष से पूर्व पाठशाला में प्रवेश नहीं पा सकते और इनके बच्चों को तीसरे वर्ष ही प्रवेश मिल जाता है। दोनों की शिक्षा और रहन-सहन में जो अन्तर है, उससे सभी सुपरिचित हैं। इनमें सबसे अधिक जिस गुण के विकास पर जोर दिया जाता है, वह है—अंग्रेजी का ऐसा उच्चारण और अंग्रेजियत की ऐसी नकल जिससे पता न चले कि बालक भारतीय है। तीन साल का यह अन्तर आगे चलकर आयु सीमा वाली बड़ी नौकरियों की उपलब्धि में वरदान सिद्ध होता है और शासकों के बेटे ही शासक बनते हैं। यह दुश्चक्र कब तक चलता रहेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। इस उच्च वर्ग की देखादेखी, फैशन के रूप में निम्न मध्य वर्ग तक इसकी खूब नकल हो रही है और नगरों में उनकी इस कमजोरी का लाभ उठाने वाली अनेक तथाकथित अंग्रेजी माध्यम वाली शिक्षा संस्थाएं खुल गई हैं।

इनके बच्चों का ३ से ६ वर्ष तक का एक अलग वर्ग बनाया जा सकता है। इसे शिशु वर्ग कहेंगे। साधारणतया तो बालक का प्रथम परिचय ५ वर्ष की आयु में वर्णमाला की पुस्तक से ही आरंभ होता है।

अब थोड़ा-सा विचार पाठ्य-पुस्तकों पर करें। पाठ्य-पुस्तकें ही हैं जो बालक के लिए वह योग्यता प्रदान करती हैं, जिसके द्वारा वह विश्व भर की ज्ञान-राशि का उपयोग कर सकता है। वे पाठ्य-पुस्तकें कभी प्रकाशकों की लूट-खसोट और भ्रष्टाचार के कारण बदनाम हुई और अब सरकारीकरण के रोग से ग्रस्त हैं। भगवान ही जानता है कि मध्यम मार्ग हमें कब मिलेगा। मैं पाठ्य-पुस्तकों को श्रेष्ठ रचना के स्तर तक उठाने

के लिए इसलिए भी जोर देना चाहता हूँ कि समस्त साहित्य के प्रतिनिधि के रूप में सबसे पहले उनसे ही बालक का परिचय होता है। और हमारे ग्रामीण बालक तो पाठ्येतर पुस्तकों से बहुत देर में परिचित हो पाते हैं।

बाल साहित्य की अंग्रेजी भाषा की पुस्तकें विदेशों से आती हैं, इसमें तो किसी को बहुत आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि देश के बहुत बड़े भाग में आज भी अंग्रेजी का वर्चस्व कायम है। इस देश में जब तक सच्चे अर्थों में आदर्श सरकार नहीं आती तब तक वोट की राजनीति के कारण हिन्दी की स्थिति में अधिक सुधार की संभावना नहीं है।

पर इससे भी खेदजनक हिन्दी बाल-साहित्य का यह पहलू है कि जितने बढ़िया पेपर पर और जितने अधिक रंगों और आकार में रूस में छपी सस्ती हिन्दी पुस्तकें उपलब्ध हैं, अपने देश में नहीं छपती हैं। आज बहुत से बच्चों के पास आपको रूस में छपी हिन्दी वर्णमाला की पुस्तक मिलेगी। क्योंकि वह बढ़िया पेपर पर, बहुरंगी छपी हुई है और सस्ती भी है।

क्या सरकारी प्रकाशन संस्थाओं का ध्यान कभी इस ओर जाएगा!

हिमाचल प्रदेश के सन्दर्भ में मैं कहना चाहता हूँ कि यहाँ न तो कोई साहित्य का प्रकाशक है और न मुद्रण की सुविधाएँ। गिने-चुने छोटे नगरों को छोड़कर, सारी जनता ग्रामों में रहती है, इस स्थिति में पाठशालाओं में पुस्तकालयों की व्यवस्था करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी व्यावहारिक हल नहीं है। मैं तो इस प्रदेश की सरकार और विशेष रूप से शिक्षा मंत्री महोदय से कहना चाहता हूँ कि पाठशाला का पुस्तकालय न केवल बालकों के लिए अपितु ग्रामीण जनता के लिए भी सुलभ होना चाहिये।

बाल-साहित्य का मूल प्रेरणा स्रोत लोक-साहित्य रहा है। यह प्रदेश इस दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। विभिन्न जनपदों की अर्थपूर्ण लोक-कथाओं का वैज्ञानिक पद्धति से संकलन और प्रकाशन होना चाहिये। यह कार्य व्यक्ति की अपेक्षा किसी संस्था द्वारा सम्पन्न हो तो समीचीन होगा।

यहाँ के लेखक प्रकाशन-मुद्रण की सुविधाओं के अभाव में पहले ही घुटन का अनुभव कर रहे हैं। बड़े नगरों में भी प्रकाशक मिलना उतना आसान नहीं है। अच्छे-अच्छे लेखकों की पाण्डुलिपियाँ वर्षों प्रकाशन की प्रतीक्षा में पड़ी रहती हैं। फिर इस क्षेत्र में भी प्रतियोगिता तो है ही। बाल-साहित्य का प्रकाशन अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इस दिशा में सरकार को महत्त्वपूर्ण योगदान देना चाहिये।

साहित्य के निर्माण में बाल-साहित्यकारों को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना परम आवश्यक है। इसके लिए प्रशंसा, सम्मान, पुरस्कार, अभिनन्दन आदि अन्यान्य उपायों का आश्रय लिया जा सकता है। पुस्तकों की थोक खरीद भी बाल-साहित्य के सृजन के लिए प्रेरक उपादान सिद्ध हो सकती है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिएँ जिनसे अभाव के क्षेत्रों में बाल-साहित्यकार अपनी अभिनव मौलिक कृतियों से साहित्य को ऐसा सम्पन्न एवं समृद्ध बनाएँ जिससे बाल-साहित्य की एक गौरवमयी परम्परा का सूत्रपात हो सके।

भारत में बीस करोड़ बच्चे हैं। यही भविष्य की आशा हैं। यही भावी भारत के कर्णधार हैं। ये आगे चलकर प्रगति की मशाल को अपने दृढ़ हाथों में थाम कर अडिग खड़े रह सकें, इसके लिए आज हमें उनको ठोस धरती पर खड़ा करना होगा और इसका एक ही उपाय है और वह यह कि हम उनके लिए

बाल-साहित्य उपलब्ध कराएँ।

बाल-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है, आशामय है। कोटि-कोटि जन के इस विशाल, अरुणोदय के देश में यदि हम जीवन के बाल रवि का उचित अर्थों के स्वागत कर सकें तो कालांतर में वही दिनकर दिग-दिगंत तक फैले अन्धकार को समूल नष्ट करके दसों दिशाओं को आलोकित कर सकेगा।[1]

□

1. बालदिवस के अवसर पर हिमाचल कला-संस्कृति, भाषा अकादमी द्वारा आयोजित गोष्ठी, शिमला में पठित-पत्र।

रिवालसर

अमृत-सन्तान हिन्दुओं को सरिताओं और सरोवरों से गहरा आन्तरिक लगाव रहा है। फलस्वरूप सभी सरिताएँ व सरोवर तीर्थ बन गए हैं। मानव-इतिहास में सर्वप्रथम अन्वेषित तथा तीर्थ-उपाधि से विभूषित सरोवर है, मानस-सरोवर। यह अन्वेषण इस जाति की दुर्गम पथ-प्रियता का भी प्रमाण है। हमारे मानस-सरोवरों में सुवर्ण कमल खिलते हैं, राजहंस उनमें मोती चुगते हैं और स्नान मात्र से समस्त सन्ताप नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्येक सरोवर से किसी-न-किसी ऋषि-मुनि का नाम जुड़ा है। रिवालसर भी महर्षि लोमश की तपोभूमि है, ऐसा माना जाता है। 'रिवालसर' संभवतः 'रेवासर' का अपभ्रंश है। 'स्कन्द पुराण' में लोमश ऋषि की तपोभूमि का नाम 'रेवासर' है। महाभारत में भी देवराज इन्द्र महर्षि लोमश द्वारा अर्जुन की कुशल-क्षेम तथा देवलोक में वास का समाचार काम्यवन में युधिष्ठिर के पास भेजते हैं। लोमश ऋषि पाण्डवों के वनवास काल में हिमालय-भ्रमण में उनका मार्गदर्शन करते हैं और पुण्य कथाएं सुनाते हैं। एक जनश्रुति यह भी है कि जब महर्षि लोमश तप कर रहे थे तब उनके कमण्डलु का जल किसी पशु ने उण्डेल दिया। जब उनकी समाधि टूटी तब उन्होंने अपने चारों तरफ जल-ही-जल देखा। हाँ, उनके नीचे का भूखण्ड सूखा ही रह गया।

रिवालसर बौद्धों का भी पवित्र तीर्थ है। महान तान्त्रिक

बौद्ध विद्वान 'पद्मसम्भव' का नाम भी रिवालसर से सम्बद्ध है। यहाँ से ही तंत्राचार्य 'पद्मसम्भव' तिब्बत गये थे। वहाँ उनका अभूतपूर्व सम्मान हुआ था। उन्होंने अपने मन्त्र-बल से वहाँ अनेक चमत्कार दिखाए थे। इसके बल पर उन्होंने पर्याप्त यश भी अर्जित किया था। यहाँ के बौद्ध गोम्पा में अखण्ड दीपक जलता है। उसके भीतर अनेक भित्ति-चित्र भी अंकित हैं। दूर-दूर से बौद्ध यहाँ आते हैं। गोम्पा के बाहर बौद्ध-यात्रियों द्वारा अंकित 'ओम् मणि पद्मे हुं' मंत्र-युक्त पत्थरों का ऊँचा ढेर लगा हुआ है। इस प्रकार मंत्र उकेरे पत्थरों को समर्पित करना उनकी पवित्र परम्परा है।

इस पवित्र स्थान के साथ एक अन्य महापुरुष की स्मृति भी जुड़ी हुई है। ये हैं गुरु गोविन्दसिंह जी। मुगल सम्राट् औरंगजेब के अत्याचारों के विरुद्ध पहाड़ी राजाओं को संगठित करने के उद्देश्य से जब गुरुजी इस ओर आये तो यहीं पर उन्होंने अत्याचार व अत्याचारी के विरुद्ध संगठित होने का सन्देश दिया था। तब से यह स्थान सिक्खों के लिए भी ऐतिहासिक महत्त्व का बन गया है। वास्तव में यह स्थान भारतीय धर्म-सम्प्रदायों की एकता का सुन्दर निदर्शन है। गुरुद्वारा सरोवर के पास कुछ ऊँची भूमि पर अवस्थित है। यहाँ जाने के लिए १०८ सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं।

यहाँ सरोवर तट पर एक शिव मन्दिर भी अवस्थित है। मन्दिर के आंगन में नंदी की एक बड़ी मूर्ति प्रतिष्ठित है। सरोवर की प्रदक्षिणा पक्की बना दी गयी है ताकि भीड़ के दिनों में यहाँ कोई दुर्घटना न हो। यहाँ वैशाखी के पर्व पर भारी मेला लगता है। दूर-दूर से हिन्दू-सिक्ख यात्री इसमें सम्मिलित होते हैं।

इस स्थान की स्थिति पर थोड़ा प्रकाश डालना अप्रासंगिक

नहीं होगा। यह स्थान मण्डी से लगभग बीस-बाइस किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में है। पहाड़ियों से घिरा होने के कारण, इस स्थान का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा मनोहारी है। जिन दिनों मैं वहाँ गया था, मुख्य सड़क से ५ किलोमीटर कच्ची सड़क पर पैदल चलना पड़ता था।

इस सरोवर में छोटे-छोटे तैरते भूखण्ड हैं। इन्हें लोग 'बेड़े' कहते हैं। इस सरोवर की प्राकृतिक शोभा का तथा मेरा साथ कुछ ही घंटों का रहा पर 'सतां सप्तपदे मैत्री' के अनुसार हममें मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया है। वैसे न सही, पर तीर्थ में जितनी देर मैं रहा, उतनी देर के लिए, मैं भी अपने को सज्जन मान लूँ तो आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जिस समय मैं पहुँचा तब वहाँ बैठी एक धर्म-परायण महिला मछलियों को आटे की गोलियाँ खिला रही थी। छोटी-बड़ी मछलियाँ, 'अहंपूर्वम्, अहंपूर्वम्' का व्यवहार करती हुई एक दूसरी को ऐसे परे धकेल रही थीं जैसे दिल्ली में बस पर चढ़ने वाले एक-दूसरे को धकेलते हुए अपनी शक्ति आजमाते हैं। मैं तो स्नान की बात भूल कर तब तक इस दृश्य को देखता रहा जब तक उस महिला का आटा समाप्त नहीं हो गया। बस, मेरा इसमें एक फोटो लेने का व्यवधान अवश्य था। इस मछली-नृत्य का आनन्द समाप्त होने पर स्नानानन्द और दर्शनानन्द में मेरा शेष समय बीता। सरोवर के सब ओर हरितिमा के घेरे को तोड़ता हुआ तट पर किन्हीं लामा का हिमश्वेत तम्बू तना हुआ था जो सारे दृश्य को एक नयी गरिमा प्रदान कर रहा था।

छोटी-बड़ी मछलियों के लिए यह अभय सरोवर है। मनुष्यों ने उन्हें अभयदान दिया है। संभवतः बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है, यहाँ इस जाति स्वभाव को छोड़कर भी वे

इस सरोवर के जल-स्रोत का मुझे पता नहीं पर इसका जल विशुद्ध तथा पारदर्शी है। जल, आकाश और धरती के बीच में रहकर दोनों से अपना रंग ग्रहण करता है। जब भगवान् भास्कर प्रकाश की प्रभूत मात्रा इस जल में घोल देते हैं तो यह उज्ज्वल नीलमणि की आभा का दिखता है। किंचित पवनान्दोलित होने पर तो यह धूप-छाँही रेशम जैसा लगता है।

मैंने बचपन में यह किंवदन्ती सुनी थी कि ताल अतल है, पाताल तक गहरा। पर, यह बात इस सरोवर के बहाने संभवतः मानव-मन के लिए कही गई होगी। इसके तट का ढलाव कई स्थानों पर इतना खड़ा है कि एक छलांग में आप डुबान पानी में पहुँच जायेंगे। इसका घेरा लगभग दो किलोमीटर है।

"किसी भी प्राकृतिक दृश्य की सर्वाधिक सुन्दर और अभिव्यंजक विशेषता उसका सरोवर होती है। झील धरती की आँख है। इसमें झाँकने वाला व्यक्ति मानो अपनी प्रकृति की गहराई को मापता है। यह सरोवर भी बेल-बूटेदार हरे फ्रेम में जड़े हुए दर्पण जैसा है। इस दर्पण को कोई पत्थर तोड़ नहीं सकता। इसका पारा कभी उड़ेगा नहीं। इसके मुलम्मे को प्रकृति नित्य संवारती रहती है। धूल-मिट्टी इसके सदा चमकने वाले तल को धुंधला नहीं कर सकती। हर प्रकार की अपवित्रता इस शीशे में पड़कर डूबी रहती है। सूर्य की धूमिल कूची, उसकी ये प्रकाश-किरणें भी उसको सदा धोती-पोंछती रहती हैं। यह सरोवर किसी की साँसें अपने ऊपर निकलने नहीं देता, अपितु अपनी साँसों को सतह से बहुत ऊपर बादल बनाकर भेज देता है। आकाश में मंडराने वाले बादल उसकी गोद में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण महान् विचारक 'थोरो' का है जो उन्होंने

'वाल्डेन सरोवर' का वर्णन करते हुए लिखा है। यह हमारे रिवालसर के लिए भी पूरी तरह उपयुक्त है।

मैं कल्पना करता हूँ कि रात को परियाँ इस सरोवर में स्नान करने के लिए उतरती होंगी। उनके जल में उतरने से होने वाले 'छपाक-छपाक' शब्द को सुनकर मछलियाँ सहम जाती होंगी। पर कौन जाने कि ये मछलियाँ ही रूप बदली हुई परियाँ हों। स्वर्ग के देवता धरती के सुखोपभोग का आनन्द लेने के लिए क्या-क्या रूप नहीं धरते! जो कुछ परियाँ, इसमें स्नान के लिए उतरती न भी होंगी, वे भी इस जल-दर्पण में अपना रूप देख कर अपना केश-पाश जरूर संवारती होंगी।

यह सरोवर मेरे मानस में गहरा पैठ गया है। मेरा मन जब कभी विषाद-ग्रस्त होता है, मैं इस मित्र के सान्निध्य में चला जाता हूं। इसकी ध्रुव स्मृति मेरे लिए वरदान बन गई है। इसने मुझे कई बार मौन निमंत्रण भेजा है, पर मैंने इसे बार-बार निराश किया है। बड़ा पाप किया है।

□

हमारी नदियाँ

नदियों का अति प्राचीन काल से सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा विस्तार के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध-सूत्र रहा है। हम भारतीयों के लिए नदी मात्र जलधारा ही नहीं है, वह केवल भौतिक सत्तामात्र नहीं है। वह हमारे लिए देवता है, वह हमारी माता है। सच तो यह है कि नदी-भक्ति हम भारतीयों की विशेषता है। नदी में पाप-नाश करना, नदी के जल का आचमन करना, नदी-तीर को तीर्थ मानना, नदी-संगम को परमतीर्थ मानना, मृतक-दाह यथासंभव नदी तीर पर करना और मृतक अस्थियों को नदी में प्रवाहित करना भारतीयों के नदी-प्रेम के उदाहरण हैं। यही नहीं, नदी का दर्शन मात्र, वह भी उपलब्ध न हो तो स्मरण मात्र, पुण्यप्रद माना जाता है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में, जब हम देवताओं का पूजन करते हैं तो पूजा के जल में आ बसने के लिए प्रधान-प्रधान नदियों से प्रार्थना करते हैं :

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

भारत की भावात्मक एकता सिद्ध करने वाली हमारी नदियाँ हमें सदा स्मरण रहती हैं। पूर्वकाल में जब किसी राज-पुत्र का राज्याभिषेक होता था तो सब नदियों और सागरों के पवित्र जल के बिना राजा का राज्यारोहण सिद्ध नहीं होता था।

नदियां हमारे लिए जीवनदायिनी और सस्यधात्री हैं। हमारी कृषि और यातायात-व्यवस्था का मेरु रही हैं। वे हमें भुक्ति और मुक्ति दोनों का दान करती हैं।

भारतीय चिन्तनधारा की प्रवाहमयता, गतिशीलता और नित-नवीनता में भी परम्परा का सूत्र उसी तरह अक्षुण्ण है, जैसे नदी में। और यह कहना असंगत नहीं होगा कि जिन तपःपूत ऋषि-मुनियों ने जीवन-रस से अमृत-स्वरूपा भारतीय संस्कृति को सींचा, वे नदी-संगमों और नदी-घाटियों के गह्वरों में निवास करते थे। 'गिरीणां गह्वरे नदीनां च संगमे धियो विप्रो अजायत। जलं जीवनमुच्यते' कहकर हमने जलधाराओं को सारस्वत श्रद्धांजलि अर्पित की है, यह हमारे जल-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है।

हमारी लोक-पावनी और लोकधात्री नदियों की उत्पत्ति साधारण भौगोलिक घटना मात्र नहीं है। वे हमारे देवमण्डल की सदस्या हैं और विशेष उद्देश्य को लेकर धराधाम पर अवतरित हुई हैं। बूढ़े पितामह ब्रह्मा के कमण्डलु से उद्भूत और त्रिविक्रम भगवान् वामन के चरण-प्रक्षालन से पावन लोक-पावनी गंगा की कथा तो हमारे पुराणशास्त्र की ज्ञानगर्भ अद्भुत कथा है। वह तप की शक्ति से भारत-भू पर अवतरित हुई हैं और साठ हजार सगर-पुत्रों का उद्धार करने के लिए आई हैं। स्वयं देवाधिदेव महादेव ने उसे अपना शीर्षस्थान अवस्थान के लिए दिया था और गर्वोद्धत गंगा शिव-लटाओं में में उलझकर रह गई थी, उसे बाहर निकलने का स्थान तक नहीं मिला था। यमुना तो भगवान् कृष्ण की प्रेयसी ही है। इन दोनों नदियों के उद्गम स्थान गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी हमारे श्रद्धासंबल यात्रियों के प्रिय तीर्थ हैं। विपाशा का नाम बता रहा है कि उसमें हमारे पशु-पाशों को काटने की अद्भुत सामर्थ्य है।

(प्राचीन नाम शतद्रु) मानसरोवर की बेटी है। मानसरोवर का माहात्म्य किससे छिपा हुआ है। कैलास की सन्निधि में अवस्थित इस सरोवर में शिव-शिवा जल-विहार करते हैं। हिमधवल राजहंस मोती चुगते हैं और तारागण अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। उन सन्तों के मानस की तरह निर्मल मानसरोवर से हमारी सतलुज की उत्पत्ति हुई है। ऐसे पिता की पुत्री बनकर सतुलुज धन्य हुई है।

संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हिन्दुओं के अपौरुषेय वेदवाङ्मय में सर्वप्रथम ऋग्वेद के तत्त्ववेता ऋषि ने लोक-पावनी और लोकधात्री नदियों की स्तुति-प्रार्थना करते हुए कहा था :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

ऋग्वेद १०/६५/५

(अयि गंगे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, परुष्णि तथा असिक्नि और वितस्ते ! हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार करो, सुनो हे अर्जिकीया और सुषोमा !)

गंगा, यमुना और अन्तःसलिला सरस्वती के नाम तो स्पष्ट ही हैं। 'शुतुद्रि' हमारी सतलुज है। परुष्णी रावी और असिक्नी चनाब है।

'मरुद्वृधा' कशमीर कष्टवार (किश्तवाड़) प्रदेश की मरु-वर्द्धान् नदी है जो चनाब में मिलती है। वितस्ता जेहलम और अर्जीकीया—विपाशा या व्यास हैं। 'सुषोमा' अटक जिले में सिन्धु की सहायक सोहन नदी है।

नदियों के वैदिक नामों के आधुनिक पर्याय श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार दिये गए हैं। यास्काचार्य ने भी अर्जीकीया

को विपाशा—व्यास ही बताया है।

हमारे एक महानद सिन्धु के कारण ही विदेशियों ने हमें हिन्दू और हमारे देश को हिन्दुस्तान नाम दिया। महाभारत के भीष्म पर्व में नदियों की एक विस्तृत सूची उपलब्ध है। इसमें एक सौ साठ के लगभग नदियों के नाम गिनाने के बाद कहा है :

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।
इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति ॥
(भीष्म० ६/३७/३८)

नदियाँ विश्वमाताएँ हैं। उनका स्तन्य पीकर ही विश्व सत्तावान् है।

"रावी से पूर्व में हिमालय तक फैला हुआ पहाड़ी इलाका प्राचीन 'त्रिगर्त प्रदेश' था जो रावी, व्यास और सतलुज की तीन नदी-दूनों को मिलाकर बना था, इसका पुराना नाम 'जालन्धरायण' भी था। अब भी त्रिगर्त कांगड़ा का प्रदेश 'जालन्धर' कहलाता है। यहाँ सदा से छोटे-छोटे रजवाड़ों का अस्तित्व रहा है। पाणिनि ने त्रिगर्त के छः संघराज्यों का उल्लेख किया है। महाभारत के अनुसार त्रिगर्त संसप्तकों की सेना दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।"

इस त्रिगर्त नाम की सार्थकता भी तो तीन नदियों के ही कारण हैं।

महाभारत के कर्ण पर्व में इन्हें वास्तविक क्रम से स्मरण करते हुए कहा गया है :

शतद्रुश्च विपाशाच तृतीयैरावती तथा।
चन्द्रभागा वितस्ता च सिन्धुषष्ठा वहिर्गिरेः ॥

पंचनद (पंजाब) का नामकरण भी तो नदीपरक ही है। सतलुज, व्यास, रावी, चनाब और जेहलम ये पंचापाः नदियाँ

पंज-आब हैं।

आचार्य काका कालेलकर ने एक सुन्दर कल्पना की है। उनका कहना है कि जो नदी पर्वत से निकले वह पार्वती और जो सरोवर से निकले वह सरोजा। जिस प्रवाह में पत्थर हों वह दृशद्वती।

ऋग्वेद में नदी-सूक्त नाम से पूरा सूक्त उपलब्ध है, जिसके ऋषि विश्वामित्र हैं और देवता नदियाँ। इस सूक्त में महर्षि विश्वामित्र ने अपने को 'कुशिकस्य सूनुः' कुशिक का पुत्र कहा और भरत-कुल के पुरोहित के रूप में विपाशा—व्यास और शुतुद्रि—सतलुज से मार्ग देने की प्रार्थना की है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस सूक्त के प्रणयन के समय विश्वामित्र पेंजवन सुदास राजा का पुरोहित था एवं पंजाब के संवरण राजा पर आक्रमण करने वाली सुदास की विजयी सेना को मार्ग प्राप्त कराने के लिए इसने इस 'नदी-सूक्त' की रचना की थी।

इस सूक्त का प्रथम मंत्र इस प्रकार है :

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥
(३/३३/१)

आगे चलकर ये दोनों नदियाँ मिल जाती हैं और इनका सम्मिलित प्रवाह सतलुज नदी के नाम से जाना जाता है। रावी, और कुछ दूर तक अकेली बहती रहती है। जब चिनाब (चन्द्रभागा) और जेहलम (वितस्ता) जिनका प्रवाह भी मिल गया है और अब चिनाब नाम रह गया है, रावी भी इस प्रवाह में सम्मिलित होकर बहने लगती है और कुछ दूर चलकर सतलुज (व्यास सहित) का प्रवाह भी इसमें मिल जाता है। ये ही पाँच नदियाँ—सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब और जेहलम पंचनद प्रदेश के नाम को सार्थक करती हैं। बाद में सिन्धु में मिल जाने पर इस ओर का हिमालय नदी तंत्र पूरा हो जाता है। इस तंत्र का दूसरा भाग ब्रह्मपुत्र के रूप में पूरा होता है। □

बुद्धि

मानव धर्म का एक लक्षण है श्रेष्ठ बुद्धि। अन्य बहुत-सी बातें पशुओं और मनुष्यों में एक जैसी हैं किन्तु बुद्धिमान होना मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य जैसी बुद्धि दूसरे किसी प्राणी में नहीं है। उपनिषदों में एक रूपक है :

शरीर रथ है, आत्मा रथ का मालिक है, बुद्धि सारथी है। मन लगाम है और इन्द्रियां घोड़े हैं।

रथ घोड़ों के बिना नहीं चलता परन्तु उसे ठीक मार्ग पर ले जाना, हाथ में लगाम थामे हुए सारथी का काम है। सारथी में चार गुण होने चाहिए। पहला यह है कि उसे मालिक का आज्ञाकारी होना चाहिए। दूसरा यह कि उसे मालूम हो कि मालिक को कहाँ जाना है। तीसरा यह कि उसे वहाँ पहुँचने के रास्ते का पता हो। और चौथा यह कि उसे रथ हाँकने का काम अच्छी तरह आता हो। इनमें से यदि किसी भी गुण की कमी हुई तो रथ अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इन्द्रिय रूपी घोड़े मनमाने ढंग से दौड़ना चाहते हैं। परन्तु यदि बुद्धि रूपी सारथी लगाम को कस कर रखे तो घोड़ों की मजाल नहीं कि वे भटक जाएँ।

जब हमारा मन कहीं दूसरी ओर लगा हो तो चाहे कोई हमारे सामने से निकल जाए या कोई कुछ बातें करता रहे, आँख-कान रहते भी हमें पता नहीं लगता कि सामने से कौन निकल गया या क्या बातें हो रही थीं। ऐसे अवसर पर प्राय:

कहा जाता है कि मेरा मन कहीं और था, इसलिए मैंने नहीं देखा या मैंने नहीं सुना।

प्रायः कक्षा में अध्यापक के पढ़ाए पाठ को मन लगा कर न सुनने वाले छात्रों को अध्यापक लोग ताड़ लेते हैं और जब उनसे पूछते हैं कि बताओ मैं क्या समझा रहा था तो ये छात्र बगलें झाँकने लगते हैं। ये छात्र वहीं बैठे हुए थे किन्तु ध्यान दूसरी ओर होने के कारण उन्हें कुछ मालूम नहीं कि अध्यापक क्या समझा रहे थे।

इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी विषय को तभी ग्रहण कर सकती हैं, जब मन भी साथ हो। मन कहीं और हुआ तो इन्द्रियाँ ठीक होने पर भी अपना काम भली भाँति नहीं कर सकेंगी। घोड़ों की चाल चाहे धीमी करनी हो या तेज, उन्हें दाईं ओर मोड़ना हो या बाईं ओर, सारथी लगाम से ही यह सारे इशारे करता है। यह बुद्धि रूपी सारथी यदि नासमझ हो, किस समय क्या करना है और क्या नहीं करना है इससे अनजान और घोड़ों को काबू में रखने में असमर्थ हो तो घोड़े मनमानी करने लगेंगे और रथ को मालिक और सारथी समेत किसी बुरे स्थान में ले जाकर पटक देंगे। इस दुर्घटना से उन्हें भी चोटें लगेंगी।

जिनकी बुद्धि शुद्ध-निर्मल होती है, वे ठीक निर्णय और निश्चय करते हैं। जैसे यदि ऐनक का नम्बर ठीक हो और ठीक नम्बर के सारे शीशे साफ भी हों, इन पर धूल-गर्द न जमी हो तो हमें सारी चीजें साफ दिखाई देंगी। पास की भी और दूर की भी। और यदि हम रंगीन शीशों वाली ऐनक पहनें तो जैसा शीशों का रंग होगा, चीजें भी उसी रंग की दिखाई देंगी। ठीक इसी तरह खोटी बुद्धि होने से खोटे काम करने के निर्णय और निश्चय होते हैं। शुद्ध बुद्धि होने से अच्छे

कामों में प्रवृत्ति होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अच्छी बुद्धि के बारे में यों लिखा है: "हे अर्जुन! किस में मन को लगाना और किससे मन को हटाना, कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा नहीं करने योग्य, कहाँ भय है और कहाँ निर्भयता, क्या करने से बन्धन में पड़ना पड़ेगा और क्या करने से बन्धनों से छुटकारा मिल जाएगा, जो बुद्धि इन बातों को जानती वह सात्विक अर्थात अच्छी बुद्धि है।"

महाभारत में एक जगह दुर्योधन कहता है: "मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, पर क्या करूं, मेरा मन उस ओर जाता ही नहीं, मैं अधर्म को भी जानता हूँ पर मैं उसे छोड़ नहीं पाता हूँ।"

समाज में उन्हें हम बुरे लोग कहते हैं, जो बुरे काम करते हैं। और जो लोग बुरे काम करते हैं, वे सदा भयभीत रहते हैं। समाज उनकी निन्दा करता है। उनके सम्बन्धी और मित्र भी उनसे घृणा करते हैं। वे सरकार से, पुलिस आदि से भयभीत रहते हैं। आप जानते हैं कि पुलिस के भय से डाकुओं के गिरोह जंगलों में जाकर रहते हैं। जो लोग कानून तोड़ते हैं, वे हर घड़ी डरे-डरे, सहमे-सहमे रहते हैं। बिना टिकट यात्रा करने वालों को हर घड़ी यह भय लगा रहता है कि टिकट देखने वाला न आ जाए! जो लोग ठीक से सरकारी करों का भुगतान नहीं करते, उन्हें भय रहता है कि अगर कभी पकड़े गए तो दण्ड भुगतना पड़ेगा। जो लोग चीजों में मिलावट करते हैं उन्हें भी सदा छापा पड़ने का भय रहता है।

इसलिए जो समझदार हैं, वे ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे डरना पड़े। न बुरा काम करो, न किसी से डरो। बच्चे माता-पिता को बहुत चाहते हैं। माता-पिता भी बच्चों को बहुत प्यार करते हैं। किन्तु घर में जिस बच्चे ने कोई बुरा काम

किया हो उसे माता-पिता से भी डर लगता है। वह जानता है कि जब माता-पिता को पता लगेगा कि मैंने यह अनुचित काम किया तभी मुझे दण्ड भुगतना पड़ेगा। जो अच्छा काम करते हैं, उन्हें पुरस्कार मिलता है।

जो बुरा काम करता है, वह उस काम को छिपाना चाहता है या मैंने यह नहीं किया इस तरह झूठ बोल कर उस पर पर्दा डालता है। उसमें हिम्मत नहीं होती कि वह स्वीकार करे और जो अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, समझ लीजिए कि वह सुधर गया। एक भूल को छिपाने के लिए कितना तो झूठ बोलना पड़ता है, वह उस झूठ से बच गया और भविष्य में वह वैसा करेगा भी नहीं।

जिसको अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार मिलता है वह खिल उठता है, उत्साह से भर जाता है। वह अपने माता-पिता तथा मित्रों को बताता है कि उसे पुरस्कार मिला। वह पुरस्कार लेते समय फोटो खिंचवाता है।

अच्छी बुद्धि वाला जानता है कि यदि मैंने कानून के विरुद्ध कोई काम किया तो मुझे जेल में बन्द कर दिया जाएगा। लोग अपने बुरे कामों के कारण ही तो बन्धन में पड़ते हैं। जेलों में जितने अपराधी बन्द हैं, वे अपने बुरे कामों के कारण ही तो बन्द हैं। और कई बार ऐसा भी होता है कि कारणवश कोई अनुचित काम हो गया और दण्ड में जेल जाना पड़ा। इस भले आदमी को पछतावा होगा कि अगर मैं वैसा अनुचित काम न करता तो क्यों जेल में बंद होता। यह आदमी स्वभाव से अपराधी नहीं है। यह जेल में अपने सारे काम ठीक से करता है। क्या आपको मालूम है कि इस तरह अपने कामों से अच्छे चाल-चलन का सबूत देने वाले कैदियों की सजा कम कर दी जाती है। और जो अपराधी जेल में भी गड़बड़ करते हैं, उन्हें बेड़ियां

पहना कर रखा जाता है। उनके बन्धन और भी पक्के और कष्टकारक हो जाते हैं।

एक बड़ी अच्छी कहानी याद आ रही है। एक जेल में कैदियों से मिलने कोई बड़ा अधिकारी गया। उसने दण्ड भुगत रहे लोगों से पूछा कि आपको किस लिए कैद का दण्ड मिला? सभी ने बहाने बनाए। किसीने कहा कि पुलिस की गलती है। दूसरे ने कहा कि मेरे पड़ोसी से मेरी शत्रुता थी, उसने मेरे विरुद्ध झूठी गवाही दे दी। इसी तरह सभी ने अपने आपको निर्दोष बताने का प्रयत्न किया। किन्तु एक कैदी ऐसा भी निकला जिसने सच्ची बात बता दी और कहा कि मुझसे भूल हो गई थी, उसी का दण्ड भुगत रहा हूँ। उस बड़े अधिकारी पर उसके सच बोलने का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने व्यंग्य में कहा, "इस जेल में इतने सारे लोग बिना अपराध के बन्द कर दिये गये हैं। बस, यही एक अपराधी है, जो स्वीकार रहा है कि उसने अपराध किया है। मेरे विचार में इन सारे निरपराधों के बीच इस एक अपराधी का रहना ठीक नहीं है। इसलिए मैं इस को छोड़ने की आज्ञा देता हूँ।"

और वह सच बोलने वाला कैदी छोड़ दिया गया। इसलिए भगवान कृष्ण ने गीता में कहा कि अच्छी बुद्धि बंधवाती नहीं, छुड़ाती है।

इसमें भगवान श्रीकृष्ण का एक अभिप्राय: यह भी है कि सद्बुद्धि के द्वारा व्यक्ति मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है और जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

जहाँ हमने अच्छी बुद्धि के कामों को समझा, वहाँ रजोगुणी और तमोगुणी बुद्धि के कामों को जान लेना भी उपयोगी होगा। भगवान् ने गीता में कहा है कि हे अर्जुन, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म तथा अधर्म, कर्तव्य तथा अकर्तव्य को भी ठीक नहीं

तामसी नीच बुद्धि है और सात्विकी सद्बुद्धि। बीच में राजसी है। इस पर थोड़ा-थोड़ा दोनों ओर का प्रभाव है। जब यह बुद्धि गिरावट की ओर बढ़ेगी तो तामसी कहलाएगी। अच्छाई की ओर बढ़ेगी तो सात्विकी कहलाएगी।

अब तामसी को भी समझ लें। भगवान् ने कहा है कि उल्टी बुद्धि का नाम ही तामसी है। यह अधर्म को धर्म मानती है। इसी तरह सभी बातों को उल्टा समझती है। यह रस्सी को साँप और साँप को रस्सी समझ बैठती है। इसलिए ऐसे लोगों को प्रायः कहा जाता है कि इन की खोपड़ी उल्टी है।

तो यहाँ तीन तरह की बुद्धि की बात हमने कही। जो व्यक्ति मुख्य रूप से सद्बुद्धि वाला है, हो सकता है कि किसी क्षण वह राजसी बुद्धि वाले जैसा काम कर बैठे और इसी तरह राजसी बुद्धि वाला भी कभी कोई सात्विक बुद्धि का काम कर सकता है। तामसी बुद्धि वालों का भगवान् ही मालिक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रावण से कहलाया है कि तामस देह से भगवान् का भजन नहीं किया जा सकता।

अच्छी पुस्तकों को पढ़ने, अच्छे लोगों के बीच रहने, धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय, सन्त-महात्माओं के प्रवचन सुनने, सत्संग करने और सेवा करने से मन और बुद्धि दोनों निर्मल होते हैं। पर कठिनाई यह है कि तामसी बुद्धि वालों को शुरू में ये चीजें अच्छी ही नहीं लगतीं। पित्त के रोगी को मिसरी भी कड़वी लगती है। और पित्त रोग की एक दवा भी मिसरी है। मीठा न लगने पर भी निरंतर मिसरी खाने से रोग ठीक हो जाता है और फिर मिसरी मीठी भी लगने लगती है। अच्छी पुस्तकों के पढ़ने, अच्छे लोगों का संग करने और अच्छे नियमों का पालन करने से भी यही होता है। सन्त पुरुषों का उपदेश है कि

भगवान के नाम का स्मरण करने, कीर्तन करने और भगवान के नाम का जप करने से भी मन की चंचलता दूर होती है, बुद्धि शुद्ध और स्थिर होती है। भीतर के अज्ञान का अन्धेरा मिट कर, ज्ञान का शीतल प्रकाश फैल जाता है।

इस लेख के प्रारंभ में हमने कहा था कि मनुष्य की यह विशेषता है कि वह सब से बुद्धिमान प्राणी है। मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान में जितनी उन्नति की है, सब बुद्धि के बल-बूते पर की है।

इसलिए नीति का वचन है कि जिसके पास बुद्धि है, वही बलवान है, निर्बुद्धि व्यक्ति बलवान नहीं हो सकता।

साधारण व्यक्ति किसी पर बन्दूक से गोली चलाए तो गोली निशाने पर लग भी सकती है और नहीं भी लग सकती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अपने बुद्धिबल से सारे राष्ट्र तक को नष्ट कर सकता है।

इतिहास में हमें बुद्धि की शक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। चाणक्य ने अपने बुद्धि बल से नन्दवंश को नष्ट कर दिया और उनकी गद्दी पर चन्द्रगुप्त को बिठा दिया।

छत्रपति शिवाजी महाराज ने न केवल औरंगजेब की चुनौती को स्वीकार किया, औरंगजेब को चुनौती भी दी थी।

चाणक्य ने कहा था कि चाहे मेरा सब कुछ चला जाए पर मेरी बुद्धि मेरे पास रहे तो मैं सभी कुछ दोबारा प्राप्त कर लूंगा।

महाभारत में हमने भगवान कृष्ण के बुद्धि-कौशल से कौरवों का विनाश होते देखा है।

मूर्ख मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान शत्रु भी अच्छा, यह सूक्ति बुद्धि की महिमा का प्रमाण है।

□

लेखक-प्रकाशक प्रसंग

एक लेखक महोदय अपने प्रकाशक के एक ही हथकण्डे से तिलमिला उठे और चिल्ल-पौं मचाने लगे।

इस पर प्रकाशक महाशय बोले, "आपकी पुस्तकों की बिक्री के लिए हमें तरह-तरह के हथकण्डे अपनाने पड़ते हैं। उनमें से कोई एक हाथ में रह गया और आपके चुभ गया तो क्या हुआ! एक ही हथकण्डे से धैर्य खो बैठे!

गुणी जनों का कहना है कि हथकण्डे और महंगाई इण्डस्ट्रियल समाज के अभिन्न अंग हैं। पर भारत सरकार है कि अभी तक प्रकाशन व्यवसाय को इण्डस्ट्री नहीं मानती। हालांकि महंगी पुस्तकें थोक खरीद में बेचने के लिए सभी प्रकाशक अपने-अपने हथकण्डे इस्तेमाल करते हैं। यह दूसरी बात है कि प्रकाशक अपने व्यवसाय को स्वयं भी इण्डस्ट्री नहीं मानते। अगर मानते होते तो अपने कर्मचारियों को इण्डस्ट्रीयल कर्मचारियों के अधिकार जरूर देते। पर प्रकाशकों की यह मांग कि इस व्यवसाय को इण्डस्ट्री माना जाए, महज इसलिए है कि इण्डस्ट्रीज को मिलने वाली ऋण सुविधाएं मिल जाएं, कर्मचारियों को सुविधाएं देने के लिए नहीं।

पर लगता है कि कोई न कोई ऐसा विचक्षण व्यक्ति अभी भी सरकार में है जो जानता है कि ये महाशय अपने गोदामों के कूड़े को बैंकों के पास गिरवी रखकर मोटी रकमें ले लेंगे और प्रकाशन व्यवसाय में दीवालिया होने की परम्परा का सूत्रपात

करेंगे।

जब से प्रकाशन व्यवसाय को प्रकाशकों के एक नेता ने 'पवित्र पेशा' घोषित किया है, तब से इसकी अपवित्रता दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती गई है।

मुझे लगता है कि लेखक वर्ग बहुत ही तुच्छ बातों के लिए प्रकाशकों को दोषी ठहराता रहता है। आज के कम्प्यूटर युग में यह कहना कि प्रकाशक वायदे के अनुसार समय पर न तो पुस्तक छापते हैं और न रायल्टी देते हैं, कितनी दकियानूसी बात है। ऐसे लेखक कभी भी प्रगतिशील साहित्य की रचना नहीं कर सकते।

ये दो-मुंहें लेखक अपने लेखन में तो 'क्षणवाद' का समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि उनकी लिखी पुस्तकों की रायल्टी उनके पोतों तक मिलती रहे। यदि प्रकाशक उनकी इस दुरभि-संधि में आड़े आते हैं तो क्या बुरा करते हैं! अपनी पीढ़ियों के लिए तो प्रकाशकों को सब कुछ करना ही होता है। लेखकों की पीढ़ियों को रायल्टी देने की जिम्मेदारी भी वे ही उठाएं तो यह सरासर अन्याय होगा।

लेखक अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाने में मस्त रहते हैं, उन्हें क्या पता प्रकाशकों को किन-किन मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। अभी एक नई गाड़ी खरीदी थी कि एक मैटा-डोर की आवश्यकता सामने आई। इससे अभी निपटे नहीं थे कि एक मेले में शामिल होने के लिए विदेश जाना पड़ा। कोठी की रेनोवेशन में दो लाख अलग से उठ गए। इन झमेलों में रायल्टी देने में केवल इतना ही विलम्ब हुआ कि कलैण्डर बदल गया। प्रकाशकों को प्रियार्टी देखनी पड़ती है

लेखक बनने में लगता ही क्या है! थोड़े से कागज और एक बाल पेन। बस। और प्रकाशक बनने में! बाप रे बाप!

ऊरा रखना चाहिए। अब अनाज, रखने और खाने की जगहों नहीं।

आद्य शंकराचार्य ने जो एक महान् लेखक भी थे, कहा है कि 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्', अर्थ ही अनर्थ का कारण है। पर 'पर उपदेश कुशल' लेखक उनकी बात भी नहीं मानते।

जाने कौन था, दण्डी या भामह, बहुत पहले कह गया कि 'काव्यं यशसे अर्थकृते'। पुस्तक-रचना से यश और धन दोनों मिलने चाहिए। वाह जी वाह! चित भी मेरी पट भी मेरी। कोई बात हुई भला! फिर प्रकाशक क्या करे!

'प्रजातंत्र' के इस युग में मिल-बाँट कर ही काम चल सकता है। प्रजातंत्र के संरक्षक प्रकाशकों का यह इकतरफा फैसला ठीक ही है कि यश लेखक ले ले और 'अर्थ' प्रकाशक की झोली (नहीं, नहीं तिजोरी) में जाए।

ग्रन्थ और ग्रन्थि-विमोचन समारोहों में पैसा तो प्रकाशक का फुँकता है और मशहूरी लेखक की होती है। मैंने अनेक प्रकाशकों को इस मसले पर छाती पीटते और भविष्य में इस घाटे के सौदे में एक पैसा भी खर्च न करने की कसमें खाते देखा है। पर पता नहीं क्यों, बतर्ज संत सूरदास, ये प्रकाशक 'ह्वै अनुकूल बिसारी सूल, पुनः खलपतिहिं भजे', जैसी विवशता के कारण फिर-फिर ऐसे समारोहों का आयोजन करते हैं और किसी बड़े आदमी के साथ फोटो खिंचवाकर ही संतोष कर लेते हैं।

और मज़े की बात सुनिये। ज्ञानपीठ जैसी प्रकाशन-संस्था लेखकों को बड़ी राशि पुरस्कार में देती है। और ये लेखक हैं कि जिस पत्तल में खाएं उसी में छेक करें। अकादमियों के पुरस्कार भी ये डकार जाएं और फिर उनकी निन्दा भी करें।

प्रकाशकों ने यों तो कई मंच बनाए हैं, पर सब हैं ऐसे ही।

नहीं तो कोई वजह नहीं है कि प्रकाशकों की ओर से लेखकों को पुरस्कार दिए जाएं और बदले में गालियाँ सुनी जाएं। भविष्य में लेखकों के बजाए प्रकाशकों को पुरस्कृत करने के बारे में गम्भीरता से विचार किया जा रहा है। प्रकाशक-संघ ने बहुत पहले से मांग कर रखी है कि सरकार जैसे फिल्म प्रोडयूसरों को पुरस्कृत करती है, हमें भी करे।

अभी यह फैसला होना बाकी है कि लेखक और प्रकाशक में से कौन-सा महत्त्वपूर्ण है।

तुलसीदास जी ने कहा है कि 'राम प्रकाशक जगत प्रकासू' और तुलसीदास जी की बात कम-से-कम लेखकों को तो जरूर माननी चाहिए क्योंकि मामला बरादरी का है। पर यहाँ सुनता कौन है! तुलसीदास ने कहा है कि प्रकाशक जो है सो, मायाधीश भी है। 'मायाधीश सकल गुण धामू' 'मायाधीश' शब्द की भंगिमा पर .रा ध्यान दोजिए—कर्त्तुं, अकर्त्तुं, अन्यथा कर्त्तुं समर्थः।

करे, न करे, या उलटा करे। क्या प्रकाशक भी यही नहीं करते। सर्वतंत्र स्वतंत्र जो हैं।

अनुबन्ध का पालन करें न करें या कुछ और करें। वे नागनाथ हों, या साँपनाथ, सब करते हैं। लेखकों को इसी समदृष्टि से प्रकाशकों को देखना चाहिए।

लेखकों का कहना है कि जब कोई यह नहीं जानता था कि 'प्रकाशक' किस चिड़िया का नाम है, तब भी लेखक थे और नामी लेखक थे। हजारों वर्षों से वे इस रचना धर्म में प्रवृत्त रहे हैं। उन्होंने कालजयी कृतियाँ दी हैं। उनके यशःकाय को जरा-मरण का भय नहीं है।

पर प्रकाशकों का कहना है कि प्रकाशकों के अभाव के कारण ही आदि कवि बाल्मीकि और महाकवि कालिदास तक

को एक पैसा रायल्टी नहीं मिली। यह दीगर बात है कि आज भी प्रकाशक इस तरह की नॉन-कापीराइट की पुस्तकें छापकर मालामाल हो गए हैं, हो रहे हैं।

लेखकों को सोचना चाहिए कि 'रायल्टी' शब्द का अस्तित्व 'प्रकाशक' शब्द के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। इसलिए उस डाल को न काटें, जिस पर वे बैठे हुए हैं। अगर प्रकाशक रूपी वृक्ष फलता-फूलता रहा तो और कुछ न सही, छाया तो लेखकों को भी मिलेगी ही।

प्रकाशक 'स-फल' होंगे तो पत्र-पुष्प-छाय कुछ न कुछ तो लेखक को भी मिलेगा।

□

सभ्यता और संस्कृति

'संस्कृति' के स्वरूप पर जब भी कोई विद्वान कुछ कहने को होता है, 'सभ्यता' के स्वरूप का भी विवेचन करना एक तरह से अनिवार्य हो जाता है। इन दोनों के भावार्थ को लेकर विचारकों में बड़ा मतभेद है। कई विद्वान तो एक-दूसरे के एक-दम विपरीत बात करते दिखाई देते हैं। फिर यदि जनसाधारण इनमें अन्तर न कर पाते हों तो उन्हें दोष कैसे दिया जा सकता है!

इन दोनों शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में होता रहा है। और उन अर्थों में इतनी भिन्नता है कि किसी सर्वसम्मत निश्चय पर पहुंचना कठिन हो जाता है।

फिर हमारे सामने एक ही उपाय बचता है कि अधिसंख्य विचारक जिस परिभाषा के पक्ष में हों, उसे मान लिया जाये। जन-साधारण की दृष्टि में ये दोनों शब्द मानव जाति द्वारा अपने लम्बे जीवन में की गई उपलब्धियों की ओर इंगित करते हैं।

प्रमुख स्थापनाएं निम्न प्रकार से हैं :

१. कुछ विद्वान 'सभ्यता' और 'संस्कृति' को पर्यायवाची शब्द मानते हैं।

२. कुछ इन्हें अलग-अलग पदार्थ मानते हैं।

३. कुछ का कहना है कि 'संस्कृति' 'सभ्यता' का सुफल है।

४. कुछ का कहना है कि 'सभ्य' या 'संस्कृत' शब्द कोई

प्रशंसामूलक शब्द नहीं हैं। कोई विशेष जनसमूह जैसी-कैसी भी स्थिति में जीवन यापन कर रहा हो, उसकी वही सभ्यता और संस्कृति है।

५. कुछ विचारक मानते हैं कि यांत्रिक सभ्यता के विकास से संस्कृति की हानि हुई है। उनका मत यह है कि कई अर्थों में 'सभ्यता' 'संस्कृति' की विरोधिनी है।

६. प्रकृति ने हमें जो कुछ दिया है, उसका उपयोग करते हुए मानव ने जो भौतिक प्रगति की है, वह सभ्यता है तथा मानसिक शक्ति के द्वारा जो सृजन हुआ है, वह 'संस्कृति' है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि 'सभ्यता' शरीर है तो 'संस्कृति' आत्मा। सभ्यता 'उपयोगिता' है तो संस्कृति 'मनः प्रसाद' की वस्तु। इसका अभिप्राय यह है कि मानव मन केवल 'उपयोगी' मात्र से ही संतुष्ट नहीं होता, उसमें कुछ ऐसी वासनाएं भी हैं जो उपयोगिता को लांघकर बौद्धिक जिज्ञासा और सौन्दर्य की प्यास के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। यह सूक्ष्म वासनाएं ही संस्कृति शब्द का वाच्यार्थ हैं।

ऊपर (६) में सभ्यता और संस्कृति की जो परिभाषा दी दी गई है, इस पर अधिसंख्य विद्वान सहमत हैं। इस परिभाषा से एक परिणाम यह भी निकलता है कि सभ्यता के उत्तर काल में ही संस्कृति स्वरूप ग्रहण करती है। मनुष्य ने जब अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति कर ली या उनसे मुक्ति पाई तभी वह संस्कृति की ओर उन्मुख हुआ।

पर सम्भवतः उपर्युक्त बात पूर्ण रूप से तथ्यों पर आधारित नहीं है। बौद्धिक जिज्ञासा और सौन्दर्य भावना मानव को आनुवंशिक क्रम से प्राप्त है। वास्तव में व्यष्टि मानव और समष्टि मानव दोनों की सुदीर्घ परम्परा है। गुहामानव द्वारा निर्मित गुफा चित्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपयोगी क्रियाएं

तथा निरुपयोगी क्रियाएं साथ-साथ होती रहती हैं। घड़ा बनाते समय जब वह उस पर चित्रकारी करने लगता है तो उपयोगिता के साथ सुरुचि का, सौन्दर्य भावना का पक्ष आ मिलता है। घड़ा न केवल उपयोगी वस्तु होता है, वह उपयोगी सुन्दर वस्तु बन जाता है। आदिमानव के क्रियाकलापों में इस सौन्दर्य भावना के दर्शन खूब होते हैं।

उपयोग की वस्तुओं को सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी सभ्यता और संस्कृति के समन्वय का द्योतक है।। इस अर्थ में संस्कृति सार्वभौम वस्तु बन जाती है।

संस्कृति सार्वभौम है, यह सच है। फिर भी जब किसी देश विशेष में संस्कृति के किन्हीं पहलुओं पर जोर दिया जाता है तो वह उस देश की या उस काल की संस्कृति कहलाई जाती है।

इसी अर्थ में भारतीय संस्कृति या पाश्चात्य संस्कृति जैसे शब्दों या भौतिक संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृति जैसे शब्दों की अर्थवत्ता है।

भारतीय जीवन दृष्टि क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्र रूप में उपनिषदों में सबसे प्रथम और सबसे छोटे ईश उपनिषद् के प्रथम मन्त्र द्वारा प्रकट होता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
त्येन त्यवतेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यचिद्धनम्॥

समस्त चराचर में ईश्वर का वास है, यह मानते और जानते हुए निज कर्मोपात्त का त्यागपूर्वक भोग और पराये धन से वितृष्णा।

जब हम कहते हैं कि पश्चिम भौतिकवाद की ओर उन्मुख है और पूर्व अध्यात्म की ओर तो प्रकारान्त से हम कह रहे होते हैं कि पश्चिम सभ्यता को संस्कृति की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। सभ्यता में स्थूल का, अन्नमय कोष का संवर्द्धन प्रमुख

होता है। जबकि संस्कृति मनोमय का पोषण करती है। और भारतीय संस्कृति मनोमय पर ही संतोष नहीं करती, विज्ञानमय और आनन्दमय को अपना साध्य मानती है।

मानव प्रकृति से जब अधःपतित होता है तो विकृति में चला जाता है, पशुत्व को उपलब्ध होता है और जब प्रकृति से उन्नत होता है तो संस्कृति में अवस्थान करता है।

यही वह दैवी सम्पत् है जिसका उल्लेख भगवान कृष्ण ने गीता में किया है और यही देवत्व को उपलब्ध होना है।

भारतीय संस्कृति के सारतत्व को तीन शब्दों में रूपायित किया गया है। ये शब्द हैं : सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्।

व्याख्या के क्रम में कहा जा सकता है कि

१. भारतीय संस्कृति का आधार अध्यात्म है।

२. यह संस्कृति सत्यान्वेषी है, 'सत्यं परं धीमहि' जिसे 'सत्यमेव जयते' के रूप में स्वीकृति मिली है।

३. 'ओ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' के अनुसार सर्व देश के 'भद्र' के स्वीकार करने की तत्परता।

४. अधिभूत का अभ्युदय और अध्यात्म का निःश्रेयस—दोनों की स्वीकृति।

५. चिन्तन में गतिशीलता—देश-काल-पात्र और परिस्थिति के अनुसार शब्दातीत सत्य को मान्य करना।

६. 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' के आदर्श वाक्य का अनुगत व्यावहारिक जीवन।

७. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसका मेरुदण्ड है।

सभ्यता के पक्ष में कहा जा सकता है कि वह साधन है, साध्य नहीं। हमारी मूलभूत आवश्यकताएं निर्विघ्न पूरी होती रहें, इसके लिए एक सीमा तक स्वतन्त्रता की अपेक्षा है। जब ये मूलभूत आवश्यकताए पूरी नहीं होतीं तो जीवन कष्टपूर्ण हो

जाता है। मूल आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी हमारी कुछ वासनाएं होती हैं और उन वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए किए गए मानव प्रयत्न ही 'संस्कृति' है।

भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता में जो अन्तर है उसके कई कारण हो सकते हैं पर मुख्य कारण है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास नगरों में कोलाहल और धक्कमधक्के में नहीं हुआ। उसके पीछे न तो कोई बाहरी संघर्ष-पूर्ण परिस्थिति थी और न किसीसे होड़ ही थी। भारतीय सभ्यता का गौरव ऐश्वर्य के उपकरणों में नहीं है। इन्द्रिय-ग्राम के भागों की साधना में भी नहीं है। उसकी अन्तर्निगूढ़ शक्ति का विकास आत्मा को विश्वात्मा के रूप में विकसित करने में है।

मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न में भारतीय मनीषा को यह स्पष्ट बोध हो गया था कि कामनाएं उपभोग से शांत नहीं होतीं अपितु बढ़ जाती हैं। इसलिए उन्हें मर्यादा में रखना आवश्यक है। उन्होंने यही किया। उपभोग की इस मर्यादा से जिस अर्जित वर्चस्व की उन्हें उपलब्धि हुई, उसका उपभोग करके उन्होंने प्रसुप्त अन्तः शक्ति का उन्मेष किया और प्रज्ञा-लोक के अधिकारी हुए। उन्होंने धारणा और ध्यान द्वारा पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड को निर्गुण ब्रह्म की सगुण साकार मूर्ति के रूप में देखा।

उनके लिए प्रकृति के परिवर्तन कभी कष्टाकारक नहीं बने। उन्होंने प्रकृति से कभी विरोध नहीं ठाना। प्रकृति को धातृ रूप में स्वीकार किया और उसके साथ तादात्म्य स्थापित किया। बाहरी प्रकृति की अपेक्षा उन्होंने मानव की निम्न प्रकृति के ऊर्ध्वारोहण की योजना की। वे मननशील होने के कारण मानव थे, दो पांवों पर खड़े होने के कारण नहीं।

हमने वैभव की अपेक्षा विभूति का ही सम्मान किया। ऋषि ही हमारे आदि पुरुष हुए, गोत्रकार हुए। ऋषि के चरणों में ही राजधिराज प्रणत हुए। ऋषि-जीवन हमारा आदर्श है।

वैदिक युग के ऋषि, बुद्ध और महावीर सबने तपोवन के महत्व को स्वीकारा।

चेतन-अचेतन का जो ऊपरी भेद किया किया गया है, वह भी आगे चलकर तिरोहित हो जाता है। मृण्मय के भीतर अव्यक्त चिन्मय के दर्शन और फिर उसके साथ तादात्म्य ही हमारी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या' का उद्घोष जब मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने किया था तो वह केवल भौतिक विस्तार के प्रति नहीं था। भूमि, जन और संस्कृति तीनों का संश्लिष्ट रूप ही मातृ-भूमि है। संस्कृति ही उसकी चिन्मय मूर्ति है जिसका निर्माण सहस्राब्दियों में संभव हुआ है। मातृभूमि की मृण्मय सत्ता से मनोमय मातृभूमि सत्ता का निर्माण मनीषा से संभव होता है।

पृथ्वी सूक्त के आठवें मन्त्र में कहा है कि यह पृथ्वी सृष्टि के आदि में सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। मनीषियों ने इसे ढूंढ निकाला था। आगे कहा है: हृदयेनावृतममृतं पृथिव्या। इसका अमृत तत्व हृदय से आवृत है। गीता में भी भगवान कहते हैं: मैं हृदय में सन्निविष्ट हूं। मर्त्य के भीतर सन्निविष्ट उसके अमृतस्वरूप को अभिव्यक्त करने का नाम ही संस्कृति है। जीवात्मा का परमात्मा की ओर प्रयाण-प्रयत्न ही संस्कृति हैं। इसीलिए संस्कृति सार्वभौम होती है।

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं, यथौकसम् नाना धर्माणं पृथिवी।

जन की अनेक भाषाएं हैं, धर्म की भी अनेक हैं। इस अनेकता में छिपी एकता के दर्शन करना ही उच्चतर जीवन है।

ऐसी संस्कृति ही भारत का प्राण है। इसलिए हम केवल राजनैतिक स्वतंत्रता को ही अपना चरम साध्य नहीं मानते। राजनैतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है, आत्मशासन के लिए। दूसरे के शासन में, बन्धन में जीना पशुत्व है। अनुशासन मानवीय गुण है किन्तु आत्मशासन देवत्व में प्रतिष्ठित करता है।

जीवन को पवित्र और सर्वभूत हितकारी बनाना ही भारत की मूल चेतना है। शिक्षा की अन्तिम परिणति संस्कृति में होनी चाहिए।

शिक्षा को जीविकोपार्जन का साधन बनाने की बड़ी जोरदार वकालत हो रही है। और ज्यों-ज्यों हम इस नारे की ओर बढ़ रहे हैं, इसका आत्मघाती विकृत रूप घोरतर होता जा रहा है।

अभ्युदय हमारा स्वीकृत जीवन मूल्य है। भूति के प्रति प्रमाद दिखाने की मनाही है। प्राण अन्नमय ही हैं पर प्राण पर ही प्रगति की इतिश्री नहीं हो जाती। उसके बाद मन है और मन के बाद और कुछ भी है। अन्नमय से आनन्दमय की ओर प्रस्थान ही संस्कृति का साध्य है। व्यष्टि के बाद समष्टि और उसके ऊर्ध्व में परमेष्ठि यही सोपान-क्रम है।

प्रवृत्ति का निवृत्ति में, अल्प का भूमा में, स्थूल का सूक्ष्म में, जीव का शिव में पर्यवसान ही साध्य है। □